

सहजानन्द शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन

दशम भाग

(बन्धाधिकार - गाथा 237-264)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'समयसार प्रवचन - दशम भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थको पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल www.jainkosh.org पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

Contents

गाथा २३७-२४१	5
गाथा २४२-२४६.....	11
गाथा २४७	20
गाथा २४८-२४९.....	25
गाथा २५०	36
गाथा २५१	42
गाथा २५२.....	42
गाथा २५३.....	48
गाथा २५४.....	53
गाथा २५५.....	53
गाथा २५६.....	53
गाथा २५७-२५८.....	69
गाथा २५९.....	73
गाथा २६०-२६१	79
गाथा २६२	84
गाथा २६३	89
गाथा २६४	89

समयसार प्रवचन—दशम भाग

प्रवक्ता

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी

“सहजानन्द” महाराज

इस समयसार ग्रन्थ में निर्जराधिकार पूर्ण हो चुका है। इसके बाद अब बंधाधिकार आ रहा है।

बन्धाधिकार कहने का कारण—यद्यपि सुनने में यह उल्टा-सा लगता है कि निर्जरा के बाद बन्ध का अधिकार क्यों कहा है। किन्तु इसका एक रहस्य यह है कि इसके बाद आयेगा मोक्ष का अधिकार। मोक्ष का प्रतिपक्ष है बन्ध। तो इस बन्ध को दिखाकर फिर बन्ध से अत्यन्त रहित बनाने वाला मोक्ष अधिकार कहा जाना है। दूसरी बात यह है कि अधिकार को बताने की वृष्टि है। है तो सर्वत्र ज्ञान तत्त्व का ही वर्णन। इस अधिकार में ऐसे ज्ञानतत्त्व का वर्णन होगा जो ज्ञान बंध के वेष में आये हुए कर्मपात्र को हटा देगा।

बन्ध के वेष में प्रवेश—अब बन्ध का प्रवेश होता है। यह बन्ध सारे जगत को प्रमत्त बना रहा है, मतवाला कर रहा है। जैसे कोई पुरुष बड़ी तेज शराब पीकर बेहोश मतवाला हो जाता है उसी प्रकार यह प्राणी राग के प्रकट करने वाले भावरूप तेज मदिरा को पीकर मतवाला, प्रमत्त हो रहा है। और, यह जगत इसको पीकर मतवाला होकर रसपूर्ण नाटक कर रहा है। इसमें अनेक कुरस हैं, रागद्वेष, संकल्प, विकल्प, विचार, विवाद, वांछायें जो स्वभाव के अत्यन्त विरुद्ध हैं ऐसे भी परिणामों को करता हुआ यह तीनों लोकों में क्रीड़ा करता है।

प्रभु के बिंगड़ने पर भी प्रभु की विलक्षण लीला—यह प्रभु राग-द्वेष मोह के भाव से बिंगड़ा हुआ है, तीन लोक में सर्वत्र सर्व स्थानों में जन्म लेकर और नाना प्रकार के शरीर को धारण कर-कर यह क्रीड़ा कर रहा है। इस क्रीड़ा में खुद ही आकुलित है, पर इसके इस ही ढङ्ग की प्रभुता इन पदों में व्याप्त हो रही है कि वह ऐसे ही नाना विभावोंरूप में क्रीड़ा कर रहा है। ऐसे महान् नृत्य को करते हुए इस बन्ध को भी धुन देने वाला कोई महिमावान भाव है, वह है ज्ञानभाव। सो यह ज्ञानभाव आनन्द रूपी अमृत का भोग करता हुआ और अपनी शुद्ध अवस्था को प्रकट विकसित करता हुआ अब प्रकट होता है। यह ज्ञान निरुपाधि ज्ञान है, अर्थात् जिस ज्ञान के साथ रागादिक भाव न लग रहे हों, शुद्ध ज्ञाता रह सके इस रूप से यह प्रकट हो रहा है।

आत्मीय नाटक में प्रधान पात्र—इस आत्मीय नाटक में प्रधान पात्र है ज्ञान। जैसे जो भी नाटक खेले जाते हैं उनमें एक प्रधान पात्र होता है जिसमें जो कुछ बात बतानी होती है मुख्यतया उस पात्र को बताया जाता है और दर्शकों की वृष्टि भी सारे नाटक में महिमारूप से विशेष पात्र पर होती है। तो यह जितना भी नाटक चल रहा है, अनेक वेष बन रहे हैं, कभी आस्रवों के रूप में, कभी संवर के रूप में प्रवेश कर रहे हैं। द्रव्य कर्म भी और यह भाव कर्म भी बहुत-बहुत पात्र हैं, जिनका आश्रय लेकर हम विविध ज्ञान किया करते हैं।

वे भाव सब पात्र हैं उन पात्रों में से एक ज्ञानभाव रूपी पात्र प्रधान पात्र है।

प्रधान पात्र की तीन विशेषतायें—भैया ! नाटक में जो मुख्य पात्र होता है उसमें तीन गुण होते हैं—धीर हो, उदार हो और अनाकुल हो । जितने भी नाटक हैं, जैसे आजकल श्रीपाल, दानवीर कर्ण, हरिशचन्द्र आदि, तो इन पात्रों में मुख्यतया क्या है कि ये तीनों गुण उनमें दिखते होंगे । यदि ये तीन गुण न हों तो उसकी मुख्यता न रह सके और न वह नाटक हो जम सके । **अपनी किसी गम्भीर घटना पर धेर्य रख सके,** अपने स्वार्थ की पूर्ति में न रहकर धर्म के लिये, लोकोपकार के लिये अपनी उदारता रख सके, कितने ही संकट आने पर व्याकुलता न हो सके, ये तीन बातें जहाँ पाया जाता है वहाँ उस पात्र को मुख्यता और शोभा होती है ।

ज्ञानपात्र की तीन विशेषतायें—इस हमारी उपयोग भूमि में जो नाटक चल रहा है, इस नाटक के बीच में भी ज्ञानपात्र एक ऐसा पात्र है जिसमें ये तीन गुण पाये जाते हैं । ज्ञान बल, भेदविज्ञानबल, वस्तुस्वरूप का ज्ञानबल ऐसे महान् बल हैं कि जिनमें यह ज्ञान, **यह बाध आधार न हा,** अपने आप में यहाँ स्थिर रहने की ओर ही रहता हो और साथ ही यह ज्ञान उदार है । जगत् के पदार्थों का किस ही प्रकार परिणमन चलता रहे जिसे अज्ञानी जीव अनुकूल और प्रतिकूल जानकर घबरा जाता है, क्षोभ में आ जाता है ऐसे ही जहाँ ये संकट चलते रहें, प्रतिकूल, अनुकूल स्थिति चलती रहे, तिस पर भी ज्ञाता मात्र रह जाना, यह कितनी उदारता का काम है । इस ज्ञान ने अपने आपको भी शान्तरस का वातावरण दिया है, यह ज्ञान अनाकुल है । ज्ञान तो ज्ञान ही है । वह सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि स्वरूप वाला नहीं है । ज्ञान का मात्र जानना ही स्वरूप है । यह ज्ञान जब अपनी सावधानी सहित प्रकट होता है तो इसमें आकुलता का नाम नहीं रहता । यह ज्ञान अनाकुल है ऐसा यह सहज अवस्था को विकसित करता हुआ ज्ञान इस प्रकरण में प्रकट होता है । यह ज्ञान जिस बन्ध को नष्ट करता है वह बन्ध क्या है, कैसे होता है? उस बन्ध के स्वरूप का पहले वर्णन कर रहे हैं । यहाँ एक साथ पाँच गाथायें हैं—

गाथा २३७-२४१

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।

ठाणम्मि ठाइदूण य करेङ्ग सत्थेहिं वायाम ॥२३७॥

छिंददि भिदंदि य तहा तालीतलकयलिवंसपिण्डीओ ।

सच्चित्ताचित्ताणं करेङ्ग दब्बाणमुवघाद ॥२३८॥

उवधादं कुब्बंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।

णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो हु रयबंधो ॥२३९॥

जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।

णिच्छयदो विणेयं ण कायचेदठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥

एवं मिच्छादिदठी बटुंतो वहुविहासु चिदठासु ।

रायाई उवओगे कुवंतो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥

बन्ध के स्वरूप प्रदर्शन में एक दृष्टान्त की घटना—बन्ध के स्वरूप को एक दृष्टान्त द्वारा आचार्य प्रकट कर रहे हैं कि जैसे कोई पुरुष अपनी देह में तेल लगाये हुए है वह ऐसे अखाड़े में पहुंचा, जहाँ स्वयं ही बहुत-सी धूल पड़ी हुई है। ऐसे अखाड़े की बात नहीं चल रही है जहाँ बाहर से धूल लाकर डाल दी जाती है जैसे कि लड़ाई के जो अखाड़े होते हैं उनमें बाहर से धूल लाकर डाल दी जाती है। किन्तु, एक प्राकृतिक मैदान जिसमें धूल स्वयं ही पड़ी हुई है, अथवा एक जंगल का दश्य ले लो, जो जंगल भी है और जहाँ एक बनाया हुआ उपवन-सा है, जिसमें स्वयं ही धूल पड़ी हुई है उसमें कोई पुरुष तेल लगाकर हाथ में हथियार लेकर केला और बांस के पेड़ों को छेदने का व्यायाम सीख रहा हो ऐसा व्यायाम करने वाले को थोड़ी देर बाद देखोगे तो वह धूल से लथपथ दिखेगा।

दृष्टान्त में पक्ष के चार स्थल—ऐसी घटना को चित्त में रखकर यहाँ प्रश्न ऐसा किया जा रहा है कि उसको धूल लगी है तो क्यों लगी है? उसके धूल बन्ध का कारण क्या है? उस पहलवान ने कई काम किए। धूल भरे अखाड़े में गया, फिर शस्त्र और परिकर निकट हुए हैं दूसरा काम। तीसरा काम-उन शस्त्रों से व्यायाम किया, परिश्रम किया, और चौथा काम-उसने सूखे या गीले केले व बाँस आदि के पेड़ काटे। इन चारों कामों के बीच उसको रज से जो बन्ध हुआ है उसका क्या कारण है? इस विषय पर प्रश्न किया जा रहा है।

धूलिबन्ध विषयक प्रथम पक्ष—तो यहाँ प्रथम पक्ष दिया जाता है कि भाई उस भूमि में स्वभाव से ही धूल बहुत है। वहाँ पहिले से ही धूल बहुत पड़ी हुई है इसलिए बन्ध हो गया है। जैसे कि साधारणतया देखने वाले शीघ्र कह सकते हैं कि वाह धूल भरे अखाड़े में पहुंचा सो धूल लग गई। यहाँ उत्तर रूप में यह कहा जा रहा है कि वह धूल वाले अखाड़े में पहुंचा सो उसे धूल का बन्ध हुआ है, तो जो पुरुष ऐसे हों कि तैल न लगाये हों और उस अखाड़े में पहुंचे हों उनके तो धूल का बन्ध नहीं देखा जाता है। बन्ध के प्रकरण को स्पष्ट करने के लिये यह दृष्टान्त बहुमुखी दृष्टियों को देता है।

धूलिबन्ध विषयक द्वितीय पक्ष—फिर कोई बोले अजी, धूल भरे अखाड़े में पहुंचने से पहले धूल नहीं लगी, क्योंकि हम तो देख रहे हैं कि वहाँ बहुत से अलग दर्शक खड़े हैं। उनके तो धूल का बन्ध नहीं हुआ। उसने जो शस्त्रों का व्यायाम किया था, हाथ, पैर चलाने का श्रम किया था इसी कारण उसके धूल लिपटी। तो इसके उत्तर में कहते हैं कि यदि व्यायाम के कारण वह धूल से लथपथ है तो जिसके तैल न लगा हो ऐसा पुरुष यदि वहाँ व्यायाम करने लगे तो उसके तो नहीं दिखता कि धूल लिपट गई है।

धूलिबन्ध विषयक तृतीय पक्ष—फिर तीसरा पुरुष बोलता है कि न तो धूल भरे अखाड़े में जाना बन्ध का कारण हुआ और न व्यायाम करने के कारण बंध हुआ किन्तु उसने जो अनेक प्रकार के हथियार ले रखे

हैं और भी निकट जो परिकर हैं जिनको देखकर कायर पुरुष भयभीत हो सकते हैं उसके कारण उसके धूल लिपटी है। यह कहना तो उन दो की अपेक्षा अधिक बोगस है। मगर कई वृष्टियों से इस प्रकरण को सुलझाना है। इसके उत्तर रूप में यह कहा जा रहा है कि यदि करण, उपकरण, परिकरण के कारण बन्ध हुआ है तो जिस पुरुष के तेल नहीं लगा है ऐसे पुरुष को भी उन हथियारों के लेने के कारण उस परिकर की निकटता के कारण धूल चिपट जानो चाहिये।

धूलिबन्ध विषयक चतुर्थ पक्ष—चौथी बात—कोई चौथा पुरुष यह कह रहा है कि ये तीनों ही बातें ठोक नहीं जँच रही हैं, परन्तु उसने कोई अनर्थ किया है, उसने शस्त्रों से पेड़ों का घात किया है, यह जो पेड़ों का घात करना है यही धूल के लिपटने का कारण है। इस पर भी यह उत्तर दिया जा रहा है कि जो पुरुष तेल को देह में नहीं लगाये हैं उनको भी सचित्त अचित्त वस्तु का घात करते हुए धूल से लथपथ बन जाना चाहिये, पर ऐसा नहीं है।

न्यायबल से निर्णय—अतः न्यायबल से यह सिद्ध है कि उस पुरुष में जो स्नेह लगा है, तेल लगा है यह तेल का मर्दन ही बन्ध का कारण है। जैसे यह पहलवान शरीर में तेल लगाए हुये इतने कामों को करता हुआ उतने कर्मों के बीच रज से बंध जाता है उसी प्रकार यह मिथ्यादृष्टि जीव जो अपनी उपयोग भूमि में, उपयोग अंग में राग का स्नेह लगाये हुये हैं, तो राग-द्वेष मोह भाव से जो परिणत हो रहे हैं उन जीवों को इस प्रसंग में अर्थात् जहाँ कर्मरूपी धूल बहुत भरी हुई है ऐसे इस लोक में और मन, वचन, काय के कारणों के द्वारा इन क्रियाओं को करते हुये में और हिंसा, झूठ, चोरी आदि प्रवृत्तियों को करते हुए में कर्मों का बंध हो जाता है।

कर्मबन्ध विषयक प्रथम पक्ष—इस सम्बन्ध में भी कुछ प्रश्नोत्तर के रूप में विचार करें। यहाँ प्रथम पक्ष यह है कि इन मोही अज्ञानी जीवों के कर्मों का बन्ध इसलिये होता है कि वे कर्मव्याप्त इस लोक में स्थित हैं। इस लोक में कोई-सा भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ अनन्त कार्मण वर्गणायें न हों। ये कार्मण वर्गणायें तीन रूप से हैं। एक तो जीव के साथ जो कर्म रूप से बंधी हुई हैं उन रूपों से कार्मण वर्गणायें हैं और एक जीव के साथ जो विस्तरोपचय रूप से पड़ी हुई हैं याने वह बन्धन तो उनके ऐसा है जैसा कि कर्मों का है पर निमित्त नैमित्तिकता नहीं है। जैसे जीव मरे तो जीव के साथ बंधे हुये कर्म जायेंगे इसी प्रकार से लगे हुये ये कार्मण स्कन्ध भी जीव के साथ मरने के बाद जायेंगे, जिन्हें विस्तरोपचय कहते हैं और तीसरी ऐसी कार्मण वर्गणायें हैं जो न विस्तरोपचय हैं किन्तु हैं, वे न जायेंगी।

विस्तरोपचय का अर्थ व पक्षस्थापन—विस्तरोपचय शब्दों में दो शब्द हैं—विस्तरा और उपचय, विस्तरा शब्द का अर्थ है प्रकृति से, स्वभाव से; उपचय यानि संचय रूप से रहे अर्थात् जीव के साथ जो कर्म बँधे हैं वे तो बंधे ही हैं किन्तु इस जीव के ही क्षेत्र में, प्रदेश में ऐसी भी बहुत सी कार्मण वर्गणायें साथ लगी हैं जो इसके साथ जाती हैं, इसके साथ रहती हैं, पर अभी कर्मरूप नहीं बंधी हैं, इस कारण जब यह जीव अपने खोटे परिणाम करता है तो यहाँ यह हैरानी नहीं है कि परिणाम तो खोटे किये, मगर बंधने के लिये कर्म

उपस्थित नहीं थे, ऐसी स्थिति इस संसारी जीव के कभी नहीं आती। जितने कर्म बंधे हुये पड़े हैं उतने ही न बंधे हुये भी इसके साथ लगे हुये पड़े हैं और फिर जो न कर्मरूप हैं न विस्तरोपचयरूप हैं ऐसी भी कार्मण वर्गणायें इस लोक में भरी पड़ी हैं। तो यह सारा लोक कर्मों से भरा पड़ा है। इन कर्मों से भरे हुये लोक में यह जीव है, इसलिये कर्मबन्ध हो गया। ऐसा एक प्रश्नकर्ता का सुझाव है।

कर्मबन्ध विषयक प्रथम पक्ष का समाधान—उत्तर में कहते हैं कि यह बात गलत है। कर्म भरे हुये लोक में रहने के कारण कर्म यदि बंध जायें तो सिद्ध के भी बंधना चाहिये। क्या प्रभु कोई ऐसी जगह में रहते हैं कि जहाँ कर्म न हो। वहाँ भी तीनों प्रकार के कर्म हैं। यद्यपि ये सिद्ध के साथ संबद्ध नहीं हैं, मगर निगोद वहाँ भी ठसाठस भरे हैं और प्रत्येक निगोद के साथ अनन्त कर्म बंधे हुये हैं, और अनन्त ही विस्तरोपचय हैं और फिर ऐसे भी बहुत से पड़े हुये हैं जो न कर्मरूप हैं, न विस्तरोपचय हैं, किन्तु कार्मण वर्गणायें हैं। यदि कर्म से भरे हुये लोक में रहने के कारण कर्म बंध जायें तो सिद्ध के भी कर्म बंध का प्रसंग आ जायेगा। इस कारण बंध का कारण यह नहीं है कि वह कर्म भरे लोक में रहता है।

कर्मबन्ध विषयक द्वितीय पक्ष व समाधान—अच्छा यह न सही, किन्तु यह पुरुष मन, वचन, काय का व्यायाम तो कर रहा है इस श्रम के कारण वहाँ बंध हुआ। ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर दिया जा रहा है कि यदि मन, वचन, काय के योग से बंध होता तो जो कषायरहित हैं, जिनको यथाख्यात संयम प्रकट हो रहा है ऐसे जीवों के भी बंध हो जाना चाहिये। क्योंकि मनोयोग, वचन योग, काययोग ये वैसे तो तेरहवें गुणस्थान तक बताये हैं पर वहाँ मनोयोग भावमन के रूप में नहीं है तो ये तीनों योग बारहवें गुण स्थान तक तो अच्छी तरह पाये जाते हैं, किन्तु जो ग्यारहवें आदि गुणस्थान वाले जीव हैं उनके यद्यपि आस्रव है, पर बन्ध नहीं होता। यदि इन कारणों से बन्ध हो जाये तो यथाख्यात संयमी के भी बंध होने लगेगा।

बन्धस्वरूप का विवरण—बंध वह कहलाता है जो दो समय तक ठहरे यानि एक समय से अधिक रहे। जब अनेक समय तक ठहरना बंध का लक्षण है तो कहीं तो इस मर्म को इस रूप में भी प्रकट किया गया है कि आस्रव के क्षण के बाद बंध होता है। अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इन दोनों में कुछ विरोध-सा हो गया है। कहीं लिखा है कि आस्रव, बंध सब एक साथ होते हैं और कहीं लिखा है कि आस्रव के बाद बंध होता है। तो इन दोनों का यों समन्वय है कि दो समय तक ठहरना उसका नाम बंध है यह तो बंध का लक्षण है पर दो समय तक जो ठहरा इसके बंध पहले ही समय से माना जाता है। जब से ठहरा है तब से बंध है, परन्तु बन्ध संज्ञा चूंकि दो समय ठहरने के कारण आयी है इसलिये इस दृष्टि से भी देख सकते हैं कि आस्रव के समय के बाद दो समय वह ठहरे तब बंध संज्ञा हो। तो बन्ध संज्ञा का कारण दूसरे समय की स्थिति है और चूंकि ऐसा नहीं है कि पहले समय में आया सो वह उस जगह को न स्पर्श किये हुये की तरह हो और दूसरे समय से उसका स्पर्श शुरू किया जाये, ऐसा नहीं है इस कारण से बन्ध उसी समय से माना जाता है। यहाँ प्रकृत बात यह कहीं जा रही है कि यदि मन, वचन, काय की क्रियाओं से बन्ध हो तो यथाख्यात संयमी जीवों के भी बन्ध का प्रसंग आना चाहिये।

कर्मबन्ध विषयक तृतीय पक्ष व समाधान—इसके बाद तीसरी बात यह कह रहे हैं कि इन्हों दो बातों से तो बन्ध नहीं है किन्तु अनेक प्रकार के जो कारण हैं, मन हैं, वचन हैं, काय हैं, ये ही तो हथियार हैं आस्रव और बन्ध के। इनके अतिरिक्त बाह्य करण भी किंतु निकट हुये हैं, सर्व जो बाह्य वैभव हैं, वस्तुओं का संचय है, यह जो बहुत बड़ा पर वस्तुओं का परिग्रह है, यही बन्ध का कारण है। तो उत्तर देते हैं कि बाह्य वस्तुओं का निकट रहना यही बन्ध का यदि कारण हो तो यहाँ के जीवों के तो क्या बाह्य वस्तुयें निकट होंगी! जितनी उत्तम, सुन्दर, अनुपम जो हर-एक के निकट नहीं रह सकती हैं ऐसी वस्तुओं का समागम है केवली भगवान के, यहाँ उस साक्षात् निमित्त की बात कही जायेगी, जिसमें साक्षात् कर्मों का बन्ध होता ही है। परिग्रह के बीच रहते हुये इन बाह्य वस्तुओं के सद्भाव के कारण बंध नहीं है। यदि तद्विषयक मूर्छा है तो इसके कारण बन्ध होता है। केवली भगवान के समवशरण की रचना तो देखो अनेक इन्द्रादिक देव गान तान कर रहे हैं, कोई पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं, अनेक महापुरुष, देव, इन्द्र जिनकी सेवा में हर प्रकार से लग रहे हैं, ऐसा जो लौकिक उत्कृष्ट वैभव है ऐसा वैभव और कहाँ पाया जा सकता है? ऐसे वैभव में रहना बंध का कारण नहीं है, किन्तु वैभव विषयक जो राग है वह बंध का कारण है। भगवान के राग का सर्वथा क्षय हो चुका है, फिर उनके बन्ध कैसे सम्भव है?

कर्मबन्ध विषयक चतुर्थ पक्ष व समाधान—अब चौथी बात यह कही जा रही है कि हमें तो यह विदित होता है कि इस जीव ने संसारी प्राणियों को, अनेक जीवों को सताया, झूठ, चोरी आदि नाना वृत्तियाँ कीं, इस कारण से बन्ध होता है, इसमें घात की बात मुख्यतया कह रहे हैं कि इस जीव ने अनेक का घात किया इस कारण बन्ध है। अथवा घात किया न कहिये, जीव का घात हुआ इस कारण बन्ध है, तो इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि फिर तो जो साधु ईर्या समितिपूर्वक गमन कर रहे हैं, समिति में तत्पर हैं ऐसे साधुओं को भी बन्ध का प्रसंग आ जायेगा।

ईर्या समिति का पूर्ण रूप—भैया! ! ईर्या समितिपूर्वक जो गमन होता है उसमें चार बातें होती हैं। एक—सूर्य के प्रकाश में दिन में गमन करें, दूसरे—चार हाथ जमीन देखकर गमन करें, तीसरे—अच्छे कार्य के लिए गमन करें और चौथे—शुद्ध परिणामों सहित गमन करें। इन चारों बातों में यदि किसी बात की कमी आयी तो वह ईर्या समितिपूर्वक गमन नहीं कहलाता है। खाली चार हाथ जमीन को देखकर चलना, गमन करना ईर्या समिति नहीं कहलाती है। कोई साधु किसी को मारने के लिये गमन करे और चार हाथ जमीन देखकर भी गमन करे तो क्या यह ईर्या समितिपूर्वक गमन कहलायेगा? नहीं कहलायेगा। तो एक साथ चार बातें होती हैं। ऐसी ही चारों बातों सहित ईर्या समितिपूर्वक गमन करते हुए साधुओं के प्रसंग में कदाचित् जीवघात भी हो जाये तो भी बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार उक्त चारों बातें कर्मबन्ध की कारण नहीं हैं। न्याय बल से अन्त में यही निर्णय आया कि जो उपयोग में राग-द्वेष आया है, स्नेह-भाव आया है वही बन्ध का कारण है।

बन्ध का कारण उपयोग में राग का वास—यहाँ प्रश्नोत्तर के साथ अन्त में यह निर्णय बताया है कि

मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकार की चेष्टाओं में लगता हुआ रागादिक को अपने उपयोग में करता है, इस कारण कर्म रूपी धूल से बन्ध है। रागादिक में उपयोग क्यों बनाता है यह जीव; इसका कारण यह है कि जीव में ऐसा स्वभाव है कि वह किसी न किसी ओर रमे। इस स्वभाव का नाम है चारित्र स्वभाव। जो ज्ञानीजन होते हैं वे शुद्ध स्वरूप में रमते हैं और जो ज्ञानीजन नहीं हैं, जिनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र का अभाव है, शुद्ध आत्मतत्त्व की जिन्हें कभी अनुभूति नहीं हुई है, ऐसे जीव को चूंकि अनेक द्रव्यात्मक पर्यायों यथार्थ मालूम होती हैं कि यही मैं हूँ, तो उन अनेक द्रव्यात्मक पर्यायों की रक्षा में और इनके पोषण में पर की ओर दृष्टि लगी है और जहाँ पर की ओर दृष्टि लगी है वहाँ रागादिक होंगे। अब रुचि भी इसको पर की है, ज्ञान भी इसको पर का है तो पर में लग भी रहा है, इस तरह इसके उपयोग में रागादिक आते हैं इस कारण से इसके बन्ध होता है।

स्नेह के अभाव में बन्ध की अनुपपत्ति से स्नेह के बन्धहेतुत्व की सिद्धि—वही पुरुष दृष्टांत में तेल लगाए हुए अखाड़े में कूदा था और वे सब काम उसने किये थे और वहाँ धूल का बंध हुआ था, वही पुरुष तेल को छुटा ले—जैसे कि आजकल साबुन से नहा लेते हैं, तेल छूट जाये, सूखा **अरह** हो जाये फिर बंधे लंगोटे सहित उसी धूलिबहुल भूमि में जाकर वैसे ही प्रसंग में वैसा ही व्यायाम करे तब भी उसके धूल बंध नहीं देखा जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जैसे तेल लगे हुये पुरुष के जो धूल का बंध होता है वह तेल के उपयोग से होता है न कि धूलबहुल भूमि में जाने के कारण होता है। इसी प्रकार इस मिथ्यादृष्टि जीव के भी जो कर्मरज लगी है वह मिथ्यात्व रागादिक विभाव परिणामों के कारण लगी है, उसको बाह्य क्रियाओं से नहीं लगी है।

किसी की विशिष्टता से किसी अन्य का अभाव—सो भैया ! देख लीजिये — न तो कर्मों से भरा हुआ यह लोक इस जीवलोक के बन्ध का कारण है, न चलनात्मक ये कर्म, मन, वचन, काय की चेष्टायें बंध के कारण हैं और न चेतन, अचेतन का दलन या **मलन** बंध का कारण है, किन्तु जो यह उपयोग भूमि रागादिक के साथ एकता को प्राप्त करती है वह पुरुष के बंध का कारण होती है। यहाँ शब्द दिया है उपयोगभूमि की रागादिक के साथ एकता को लेकर-इससे यह जाहिर किया है कि द्रव्यानुयोग उपयोग में आगत रागजन्य बंध की बात कहता है। किन्तु करणानुयोग अबुद्धिपूर्वक रागजन्य सूक्ष्म बंधन की भी बात कहता है। प्रयोजक दृष्टि से यहाँ सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है।

ज्ञानी की अबन्धकता—करणानुयोग में यह बतलाते हैं कि जिसमें राग भाव का उदय है चाहे वह जीव किसी भी परिस्थिति में हो, उसके बन्ध चलता रहता है और यहाँ यह बतला रहे हैं कि रागादिक के साथ उपयोग यदि एकता को प्राप्त होता है तो उसके बन्ध होता, जिसे कहते हैं, अहंत्व व ममत्व परिणाम, राग में राग का होना, राग में उपयोग का फंसना, अपने चित्त में धुनि में राग ही सर्वस्व रहे, राग की आसक्ति होना ये ही बन्ध के कारण हैं। राग में राग जिसके नहीं है उसके बन्ध नहीं बताया, क्योंकि हो रहा है वह, जल्दी मिट जायेगा, पर अनन्तानुबंध न करने के कारण उस बन्ध को अबन्धवत् कहा गया है। तो जब राग के

साथ यह उपयोग भूमि एकता को प्राप्त होती है तब इसमें बन्ध होता है, अन्यथा नहीं, इस ही बात को अब दृष्टान्त के साथ कुछ उत्तर पक्ष रूप समर्थन करते हैं।

गाथा २४२-२४६

जह पुण सो चेव णरो गेहे सब्मिंहि अवणिये संते ।

रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२४२॥

छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।

सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघादं ॥२४३॥

उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।

णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥२४४॥

जो सो अणेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।

णिच्छयदो विणेयं ण कायचेटठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।

अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥

बन्ध हेतु के अभाव में बन्ध का अभाव—कहते हैं कि जैसे कोई निःस्नेह पुरुष या वही पुरुष स्नेह को निकालकर, तेल को निकालकर फिर उसी धूल भरे स्थान में शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है और बांस, कदली आदि के वृक्षों को छेदता है, भेदता है, सचित्त अचित्त वस्तुओं का उपघात करता हुआ इस जीव के जो कर्मरज का बन्ध होता है वह बन्ध किस कारण से होता है इस पर विचार करो। इस सम्बन्ध में बहुत विचार पहले आ चुके हैं। यहाँ निर्णय रूप में यह समझो कि अब इस पुरुष के जिसके पहले तेल लगा था अब नहीं लगा है इस कारण से उसके धूल का बन्ध नहीं होता।

ज्ञानी के शुद्ध तत्त्व की प्रतीति का परिणाम—निश्चय से विचारो यानि साक्षात् निमित्त की दृष्टि करके देखो तो काम की चेष्टाओं से और अन्य बातों से भी इस जीव के बन्ध नहीं होता, किन्तु अशुभ परिणाम हो, मिथ्यात्व रागादिक भाव हो तो उसके बन्ध होता है। इस प्रकार यह सम्यग्दृष्टि जीव भी यद्यपि नाना प्रकार के योगों में लग रहा है, पर अपने उपयोग में रागादिक को नहीं करता इसलिये कर्मरज से नहीं बन्धता। उपयोग में रागादिक को नहीं करता इसका भाव यह है कि वह अपने आपके सहज ज्ञायक स्वरूप में प्रतीति रखता है।

ज्ञानी का स्वरूप निर्णय—मैं क्या हूँ, जैसे कि लोक में ये सब पुरुष अपने आपको कैसा-कैसा नाना प्रकार से अपने को माना करते हैं, मैं पंडित हूँ, त्यागी हूँ, सेठ है, मैं अमुक परिवार वाला हूँ, अमुक जाति कुल का हूँ, अमुक मजहब का हूँ, जैसे ये लोग अपने आपके बारे में कुछ न कुछ अहं की श्रद्धा बनाए हैं

उसी प्रकार सम्यगदृष्टि जीव परमार्थ से, व्यवहार की बात नहीं, कहने की बात नहीं, किन्तु अपने आपमें 'ज्ञायकस्वरूप हूँ' इस प्रकार की श्रद्धा रखता है सो अपने आपके उपयोग में रागादिक को न लेकर अपने आपकी प्रतीति में अहं रूप से मानने में रागादिक को ग्रहण नहीं करता, किन्तु शुद्ध ज्ञान प्रकाश मात्र अपने आपको जाना । इस कारण सम्यगदृष्टि जीव के कर्मरज का बन्ध नहीं होता ।

उपयोग में राग के अभाव से अबन्ध—जब उस पुरुष ने तेल अपने शरीर में नहीं लगाया तो सारी बातें वैसी ही दिख रही हैं जो तेल लगाये हुये पुरुष कर रहा था और धूल से लथपथ हो रहा था, उसी अखाड़े में गया जहाँ कि धूल भरी हुई है, वैसे ही शस्त्रों का व्यायाम किया, वैसे ही और अनेक कारण, उपकरण, दर्शक, साथी सब निकट हैं, वैसे ही उन सचित्त-अचित्त वस्तुओं का घात किया पर धूल से नहीं लथपथ हुआ क्योंकि तेल का जो मर्दन है वही बंध का कारण था, वह अब इसके नहीं है । इसी तरह सम्यगदृष्टि जीव अपने आपकी उपयोग भूमि में रागादिक को नहीं ला रहा है तो देखिये वही तो जगह है जहाँ कर्म व्याप्त है, उसी जगह रह रहा है, वहाँ ही मन, वचन, काय की क्रियाओं को कर रहा है और अनेक पदार्थों का संचय है, शस्त्र लिये बहुत-सा परिकर हैं और उसी प्रकार सचित्त-अचित्त वस्तुओं का उपघात हो रहा है, भावपूर्वक नहीं । किन्तु द्रव्य में । फिर भी बन्ध नहीं है ।

वियोग बुद्धि का प्रताप—मैया ! कथन को परखिये—यह द्रव्यानुयोग का कथन है इसमें अनन्तानुबंधी के बंध को बंध कहा है और अबुद्धिपूर्वक जो हैं उनको इस दृष्टि में नहीं लिया है, क्योंकि राग में जो राग है वह ऐसा बन्धन है कि इसको संसार में बांधे रहता है । जब राग में राग नहीं रहता, मिथ्यात्वभाव नहीं रहता तो उसका बन्धन निवृत्तिपरक बन्धन समझो । जैसे कोई तेज दौड़ रहा है और उसी तेज दौड़ने के अन्दर ही किसी समय यह ख्याल आये कि मुझे उस तरफ नहीं जाना है, मेरा तो अभी वह काम करने को पड़ा है तो उस तेज दौड़ने में कोई पाव फर्लाङ्ग दौड़ करके ही वह रुक पायेगा, मगर उस ज्ञान के बाद जो दौड़ है उसमें शिथिलता हो गई । इसी प्रकार सम्यगदृष्टि का जो उपयोग है, कर्मविपाकवश यह भी कुछ अंशों में चलित विचलित हो जाता है, उपयोग अन्यत्र लगता भी है, पर उसके वियोगबुद्धि रहती है । यह करने योग्य नहीं है, इससे हम कब अलग हो जायें ऐसी प्रतीति होने के कारण उसमें बंधन नहीं माना है । हम वहाँ पर बंधन भी नहीं मानते कि जब वह गहरा विचार करले उसी समय उस चीज को छोड़ सकता । देखो तो मैया ! वही तो लोक है, वही कर्म है और वही करण उपकरण है, वैसा ही चेतन अचेतन भी उपादान है फिर भी यह सम्यगदृष्टि जीव चूंकि रागादिक भावों को अपनी उपयोग भूमि में नहीं ला रहा है अर्थात् उपयोग में राग को नहीं बसाये हुये है तो वह बंध को प्राप्त नहीं होता है ।

जिसकी रुचि उसका उपभोग भूमि में वास—जैसे किसी पुरुष का कोई इष्टतम गुजर जाये तो उसे बड़ा क्लेश होता है और तब उसकी उपयोग भूमि में वही पुरुष रात-दिन बना रहता है जिसका वियोग हुआ है ऐसे पुरुष को रिश्तेदार लोग मनाकर जबरदस्ती खिलाते हैं, वह खाता भी है, पर उसके उपयोग भूमि में भोजन नहीं बसा है उसके उपयोगभूमि में तो वही इष्ट पुरुष बसा हुआ है । उस स्थिति में यह अन्दाज कर

लो कि उस पुरुष के लिये उस भोजन का भी बंधन नहीं है जैसे कि पहले उसे भोजन के रस का भी बंधन था, जब भोगों में रत था, अमुक चौज यों बनाना या खाना है। खाने का यह बड़ा शौकीन था, खाने का उसे बंधन था, किन्तु अब चूंकि उपयोग भूमि में दूसरी ही बात बस गई है सो भोजन वगैरह का बंधन नहीं रहा। इसी प्रकार जब इस जीव को अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का भान होता है, ओह यह तो मैं सहज ही ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप हूँ, तब पर का बन्धन नहीं रहता।

ज्ञानी की अपने आपकी प्रतीति—भैया ! ज्ञान और आनन्द भाव से निकल कर बाहर में क्यों फिरँ, यहाँ मुझे कुछ न मिलेगा, इस प्रकार दृढ़तम भावना उस ज्ञानी पुरुष की है। मेरी आत्मा ही स्वयं ज्ञान और आनन्द है। यह मैं सबसे पृथक हूँ, सभी द्रव्य अपने अस्तित्व वस्तुत्वादि गुणों के कारण खुद में हैं और खुद में ही परिणमते हैं। इस प्रकार यह मैं अपने सत्त्व के कारण खुद अपने रूप हूँ, अपने आप विविक्त हूँ, अपने मैं परिणमता हूँ, अपने रूप परिणमता हूँ, अर्थात् भावात्मक परिणमन किया करता हूँ, भाव ही बना पाता हूँ, इसके अतिरिक्त मेरा बाह्य पदार्थों में कुछ भी कर्तव्य नहीं। बाह्य में जो कुछ होता है विभावरूप कार्य, उसमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध इस रूप में है कि योग्य उपादान जिस अनुकूल निमित्त को पाकर विभावरूप परिणम सकता है, अनुकूल निमित्त की सन्तुष्टि होने पर वह उपादान स्वयं की परिणति से विभावरूप परिणमता है, वहाँ पर भी निमित्तभूत पदार्थ ने कहीं कुछ अपना द्रव्य, अपना गुण, अपनी पर्याय अपने से निकालकर उपादान में रखकर परिणमन किया हो ऐसा नहीं है।

ज्ञानी को पर न सुहाने का कारण—ऐसे इस ज्ञानी जीव को जब वस्तुस्वरूप का सही पता लगता है और इस भेद विज्ञान के प्रताप से बाह्य पदार्थों से उपेक्षित होकर, समस्त बाह्य पदार्थों को भुलाकर केवल निज ज्ञायक स्वरूप का परिचय लेकर यह अपने उस ज्ञान को ही जेय करके अभेद रूप प्रवर्तन करता है, उस समय जो इसके विलक्षण अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्द के अनुभव के बाद इसके उपयोग में फिर राग नहीं बसता। उसे फिर बाहरी वस्तुयें नहीं सुहाती हैं।

उत्कृष्ट ज्ञान सुधारस स्वादी की वृत्ति—जिसने किसी सरस भोजन का आनन्द लिया है और उसमें विशेष मौज माना है तो उसका वह रुचिया हो जाता है, अब उसे साधारण, नीरस, सूखा भोजन रुचि में नहीं आता है। जैसे किसी भी प्रकार का विशेष लाभ कोई प्राप्त कर ले तो उसे साधारण लाभ में रुचि नहीं रहती है उसी प्रकार इस ज्ञानी जीव ने अपने आप में सहज स्वाधीन अपने आत्मीय आनन्द का अनुभव किया है इस कारण उसे अब विषयों में मौज नहीं आती है। वह राग में राग बुद्धि नहीं करता, इसको अपना स्वरूप नहीं मानता, उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की उपासना के लिए उसका चित्त चाहता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव चूंकि अपनी उपयोग भूमि में रागादिक को नहीं ला रहा है सो अब बतलाओ कि वह सम्यग्दृष्टि पुरुष बन्ध को कैसे प्राप्त करै?

ज्ञानी के निर्गल प्रवृत्ति का अभाव—इतना होने पर भी श्री अमृतचन्द्रजी सूरि एक कलश में कह रहे हैं—“तथापि न निर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां, तदायतनमेव सा किल निर्गला व्यापृतिः। अकामकृतकर्म

तन्मतमकारणं ज्ञानिनां, द्वयं न हि विरुद्ध्यते किमु करोति जानाति च ।” यद्यपि ये इतनी बातें स्पष्ट हैं कि बन्ध होता है तो अपने रागादिक भावों के निमित्त से होता है, बाह्य पदार्थों से नहीं होता है । कदाचित् राग भी आए तो राग को उपयोग भूमि में बसाये अर्थात् अपनी बुद्धि में राग रहे, राग में लिप्त हो या जानकर राग करने में हित मानकर प्रवृत्ति करे तो बन्ध होता है अन्यथा नहीं होता । इतनी बात स्पष्ट होने पर भी ज्ञानी जीव के निरर्गल आचरण नहीं होता है । अजी! कौन खाता है, ये तो पुद्गल की क्रियायें हैं, ये तो देह की क्रियायें हैं, ऐसा जानकर स्वच्छन्द नहीं बन जाना है, क्योंकि अगर निरर्गल व्यापार कर रहा है, स्वच्छन्द विषयों में लग रहा है तो यही तो राग का राग है । यही तो बन्ध का घर है । उसके बन्ध कैसे न होगा?

सृष्टि दृष्टि की अनुसारिणी—बहुत से लोग यह सफाई देने लगते हैं कि धर्म के मामले में क्या करें, चारित्रमोह का उदय है व लग रहे हैं घर में जान-जानकर, आसक्ति से लग रहे हैं, छोड़ नहीं सकते । रात-दिन के समय में किसी भी क्षण यह कल्पना नहीं जगती, यह भाव नहीं उत्पन्न होता कि सर्व भिन्न हैं, मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसी भावना इसके नहीं जगती, फिर भी कहते हैं कि चारित्र मोह का उदय है । वह तो है ही पर साथ में मिथ्यात्व भी बस रहा है । यह तो अपने आपके भीतरी भाव का अन्तर है कि रुचिया किसका होना? समस्त झंझटों से निवृत्ति पाने का रुचिया होना यानि अपने आपका केवल जैसा सहज स्वरूप है उस रूप बने रहने का, देखने का रुचिया होना कल्याणकारी है ।

ज्ञानी का निष्काम कर्मयोग—भैया ! निष्काम कर्मयोग में ज्ञानी के तो यह बात बतायी गई है कि कर्म विपाक से यदि बाह्य वृत्ति भी चलती है तो भी उसके चारित्रमोह का विपाक है, मिथ्यात्व का विपाक नहीं है । ज्ञानी जीव की वे जो क्रियायें बतायी गई हैं वे अकामकृत हैं । यह है निष्काम कर्मयोग सम्बन्धित जीव का । अन्य जन निष्काम कर्मयोग कहते हैं और जैन सिद्धान्त में भी निष्काम कर्मयोग बताया है, जहाँ निष्काम कर्मयोग में उन कर्मों को उपादेय नहीं कहा है, वहाँ निष्कामता को उपादेय कहा—तब अन्यत्र कुछ भाई निष्काम कर्मयोग में निष्काम की मुख्यता नहीं रखते, कर्मयोग की मुख्यता रखते हैं और इसी कारण निष्काम कर्मयोग को भी मुक्ति का उपाय मानते हैं, पर निष्काम कर्मयोग से मुक्ति नहीं है । मुक्ति तो निष्कामता से है ।

कर्म और ज्ञातृत्व का कदाचित् एकत्र वास—भैया ! कर्मयोग जितना साथ लगा है वह तो दोष है, दण्ड है । इस ज्ञानी जीव के चूँकि ऐसी स्थिति है कि मिथ्यात्व तो रहा नहीं, विपरीत आशय तो है नहीं, अपने ही स्वरूप का परिचय बना हुआ है फिर भी कुछ समय तक ही पूर्वकाल में जो अज्ञान से बंधन किया था उन बन्धनों में जो बन्धन शेष हैं उसके विपाक में इसके अभी प्रवृत्ति चल रही है, कर्मयोग हो रहे हैं, पर वे कर्मयोग बन्ध के कारण नहीं हैं क्योंकि निष्कामता का वहाँ साथ है । सो इस प्रकार ज्ञानी जीव के ये दोनों बातें विरोध को प्राप्त नहीं होतीं कि वह कुछ करता भी है और जानता भी है ।

कर्तृत्व और ज्ञातृत्व का विरोध—भैया ! स्वरूपतः करना और जानना इन दोनों का परस्पर में विरोध है, जो करता है वह जानता नहीं, जो जानता है वह करता नहीं । यहाँ करने का अर्थ है कर्तृत्व बुद्धि । मैं

पर में यों कर देता हूँ, मैं पर को सुखी-दुःखी करता हूँ, मैं पर को ऐसा बना सकता हूँ, बरबाद कर सकता हूँ, पालन-पोषण करता हूँ, इस प्रकार की जो बुद्धि है इसे ही कर्तृत्व बुद्धि कहते हैं। तो कर्तृत्व बुद्धि का जहाँ प्रसार चल रहा है वहाँ शुद्ध जानने का प्रसार नहीं चलता और जहाँ शुद्ध जानने का प्रसार नहीं चलता वहाँ कर्तृत्व बुद्धि का प्रसार चल रहा है और जहाँ शुद्ध जानने का परिणमन चल रहा हो वहाँ कर्तृत्व बुद्धि नहीं रहती।

ज्ञानी की मध्यम स्थिति निष्काम कर्मयोग—ज्ञानी जीव के कर्तृत्व बुद्धि नहीं रहती है। कर्तृत्व बुद्धि होने का नाम भी तो मोह है। ज्ञानी पुरुष सारे लोक को यद्यपि देख रहा है, समस्त बाह्य क्रियाएँ कर रहा है फिर भी अन्त में उनका ज्ञाता है, जाननहार है। ऐसे निष्कामता व कर्मयोग दोनों का सम्बन्ध सम्यगदृष्टि जीव के साथ है। अज्ञानी जीव के केवल कर्मयोग ही लग रहे हैं, उसमें निष्कामता नहीं आई। जिन में निष्कामता पूर्ण है उनके कर्मयोग नहीं है, किन्तु इस मध्यम अवस्था में इस सम्यगदृष्टि जीव के निष्काम कर्मयोग है सो इस ज्ञानी जीव के ये दोनों ही बातें विरोध को प्राप्त नहीं होती हैं।

कर्मयोगी की अज्ञानमयता—ऐसा निर्णय करने के बाद अब शुद्ध मार्ग की मुख्यता लेकर यह जानना आवश्यक है कि जो जानता है वह अकर्ता है और जो कर्ता है वह जानता नहीं। रागकर्म जितने भी हैं वे सब अज्ञानमय भाव हैं। अज्ञानमय भाव मिथ्यादृष्टि जीव के ही होता है। इस कारण से कर्मराग, प्रवृत्ति का अनुराग, पर्याय बुद्धि – ये मिथ्यादृष्टि जीव के होते हैं और उसके वे बंध के कारण होते हैं।

संसार और मुक्ति के फैसले की “मैं क्या हूँ” के निर्णय पर निर्भरता—भैया ! सारा मामला इन दो बातों में फैसले रूप में है कि यह जीव अपने को वास्तव में क्या मानता है। मैं क्या हूँ, बस इस ही निर्णय पर दो फैसले हैं—संसार में रुले या मुक्ति की ओर जाये। अपने आप में खुद को देखो कि मैं अपने आपके बारे में किस रूप में निर्णय रखे हुए हूँ? मैं क्या हूँ। यदि इन बाह्य पर्यायों में ही फंसकर, ऐसा ही उपयोग देकर मान रहा हो कि मैं अमुकचन्द्र हूँ अमुक प्रसाद हूँ, अमुक परिवार वाला हूँ, ऐसी पोजीशन का हूँ, किस ही रूप अपने आप में विश्वास है तो वह संसार की ओर है, बंधन की ओर है, और यदि यह विश्वास है कि मैं जगत के समस्त पदार्थों से न्यारा केवल एक चैतन्य शक्ति के रूप में एक अलौकिक पदार्थ हूँ, निर्नाम हूँ, इसका कोई नाम नहीं, इसमें विविधता नहीं, ऐसा एकस्वरूप मैं चैतन्य स्वभाव हूँ, ऐसा जिसके निर्णय है उसे कदाचित् कभी कुछ करना भी उस जीव के इस ज्ञानमय भाव को बंध का कारण नहीं कहा, और उस पर्याय बुद्धि जीव के आशय को बंध का कारण कहा है, इसलिये यह निर्णय कर लेना, अनुभव कर लेना आवश्यक है कि मैं क्या हूँ।

बन्ध प्रसंग में उपस्थित वस्तुओं के स्वरूप के विवरण की आवश्यकता—बंध के प्रसंग में जो इन अनेक चीजों का समागम है इनका वास्तविक स्वरूप क्या है इस पर दृष्टि दें। यहाँ प्रकरण यह चल रहा था कि कोई जीव पहलवान अपने शरीर में तेल का मर्दन करके धूल भरे अखाड़े में शस्त्रादिक को ग्रहण कर सचित्-अचित् कदली, बाँस आदि वृक्षों का घात करता हो, व्यायाम करता हो तो कुछ ही समय बाद में उस

पुरुष के समस्त शरीर में धूल चिपट जाती है, उसके धूल चिपटने का कारण पूछा गया है उसका यह सब वर्णन हो चुका है। अब यहाँ यह सब देखना है कि वे सभी चीजें आखिर क्या हैं, क्योंकि उनका स्वरूप जाने बिना यह भी विश्वास नहीं हो सकता कि इन बाह्य पदार्थों के कारण धूल का बंध नहीं हुआ।

कर्मबहुल लोक—जैसे कर्म भरा यह संसार है तो कर्मों के सम्बन्ध में तो पहिले बताया गया था कि तीन प्रकार की कार्मण वर्गणायें होती हैं—एक कर्मरूप, एक विस्तरोपचयरूप और एक अनुभयरूप जो न तो कर्म ही बनी है और न विस्तरोपचयरूप है किन्तु कर्म बनने की प्रकृति रखती है ऐसे कर्मों से भरा हुआ यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है। लोक कुछ अलग वस्तु नहीं है किन्तु छहों द्रव्यों का जो समन्वयात्मक क्षेत्र है उस क्षेत्र का नाम लोक है अर्थात् जितने स्थान में जीव, पुरुष, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य रहते हैं उतने आकाश का नाम है लोक। भैया ! कहीं इस आकाश के दो हिस्से नहीं हैं कि कोई लोकाकाश है और कोई अलोकाकाश हो। आकाश एक अखण्ड द्रव्य है पर इतने महाविस्तार प्रमाण वाले आकाश में सभी द्रव्यों का निवास है जितने में, उतने क्षेत्र का नाम है लोक और उससे बाहर के क्षेत्र का नाम है अलोक।

लोक का आकारादिक—इस लोक का आकार पुरुषाकार बताया है, अनादि से ही ऐसा इसका रूप है। इसे किसी ने बनाया नहीं है न इस रूप में कोई फेर-बदल हो सकता है कि आज पुरुष के आकार लोक है तो कल के दिन और आकार का बन जाये ऐसा उसके आकार में फेर-बदल भी नहीं हो सकता। इस समस्त लोक में जीव ठसाठस भरे हैं, पर सिद्ध का निवास तनुवातवलय के अन्त में ४५ लाख योजन परिमाण क्षेत्र में है और उससे बहुत नीचे, बलयों से भी नीचे सिद्ध शिला है, उस सिद्ध शिला का नाम सिद्धों के निवास के कारण नहीं है, किन्तु उस सिद्धशिला के ऊपर और-और प्रकार के देवादिक नहीं रहते हैं। उसके बाद व्यक्त रूप में, प्रयोजन रूप में सिद्धों का निवास है और सिद्धों का निवास ठीक उतने ही स्थान में है जो सिद्धशिला के एकदम ऊपर पड़ता है। सिद्धशिला के परिमाण बगाबर उनके ऊपर सिद्धों का निवास है, इसलिए पृथ्वी का नाम सिद्धशिला है, अष्टम पृथ्वी है।

सिद्धशिला के नीचे की रचना—उसके नीचे ५ अनुत्तर विमानों की रचना है। यह त्रसनाली की बात कहीं जा रही है। ५ विमान इस तरह स्थित हैं, बीच में सर्वार्थसिद्धि स्थित है और पूरब, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर में ये चार विमान हैं विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित। इस पटल के नीचे अनुदिश हैं, इन अनुदिश विमानों में ९ विमानों की रचना है। उनकी रचना भी इसी प्रकार है एक बीच में है और आठ विमान दिशा-विदिशा में एक-एक हैं, फिर उसके नीचे नवग्रैवेयक की रचना है। नवग्रैवेयक के ९ पटल हैं। एक-एक पटल में एक-एक ग्रैवेयक है और उसमें एक विमान मध्य में है और ८ विमान दिशा-विदिशा में एक-एक हैं। ऐसी ९ जगहों में ९ विमान हैं। उनमें से नीचे के तीन ग्रैवेयकों का नाम अधोग्रैवेयक है। मध्य के तीन ग्रैवेयकों का नाम मध्य ग्रैवेयक है और ऊपर के तीन ग्रैवेयकों का नाम ऊर्ध्व ग्रैवेयक है।

ग्रैवेयक का विवरण—ग्रैवेयक पर्यन्त मिथ्यादृष्टियों का गमन हो सकता है, इससे ऊपर नहीं होता।

इसी ग्रैवेयक का दूसरा नाम बैकुण्ठ रख लीजिये । जैसे कि यह प्रसिद्ध है कि जीव बैकुण्ठ में जाकर चिरकाल पर्यन्त संकटों से मुक्त रहता है, उन्हें मुक्त आत्मा बोलते हैं । फिर उनका वह चिरकाल व्यतीत हो जाने पर उन्हें वहाँ से च्युत होकर जन्म लेना पड़ता है ऐसी बुद्धि जिस बैकुण्ठ के बारे में हो उस स्वरूप की समानता इस ग्रैवेयक में है । ग्रैवेयक का नाम भी गला है, गले के स्थान की जगह का नाम है ग्रैवेयक और बैकुण्ठ का भी अर्थ है काठ के स्थान की जगह ।

स्वर्ग रचना—इस ग्रैवेयक के नीचे फिर आठ युगलों में १६ स्वर्गों की रचना है । यह १६ स्वर्गों की रचना पृथक्-पृथक् नहीं बसी है किन्तु विभाग में पृथक्-पृथक् है । जो पहले-दूसरे स्वर्ग हैं उनमें ३१ पटल हैं । उनके एक-एक पटल में ऐसी रचना है कि मध्य में एक इन्द्रक विमान, दिशा में दिशा के विमान, विदिशा में विदिशा की पंक्ति के विमान और बीच का जो स्थान है उसमें प्रकीर्णक विमान । इस तरह की रचना पहले पटल में है, फिर दूसरे पटल में एक-एक विमान कम है, दिशा, **विदिशा** । इस तरह से पटल ३१ बने हुये हैं, उन ३१ पटलों में पूरब, दक्षिण, पश्चिम दिशाओं के जो विमान हैं इसके बीच में विदिशा के जो विमान हैं और उनके बीच प्रकीर्णक विमान और मध्य का इन्द्रक विमान है । ये सब पहले स्वर्ग में आये हैं और इनके सिवाय जो बचे हुए विमान हैं, उत्तर दिशा की श्रेणी के विमान हैं और उसके अगल-बगल के दो विदिशा के विमान हैं और उनके बीच में प्रकीर्णक विमान हैं, यह दूसरे स्वर्ग के विभाग में आया है । इस प्रकार से स्वर्गों के विभाग होते हैं । यों ऊपर इस प्रकार की स्वर्ग रचना चलती गई है ।

मध्यलोक और अधोलोक—फिर स्वर्गों के नीचे, इस त्रसनाली की बात कह रहे हैं, फिर मध्यलोक शुरू होता है, तिर्यकलोक और इसके नीचे ७ नरक, और इसके नीचे कुछ स्थान छोड़कर फिर वातवलय आ जाता है और फिर चारों ओर भी बहुत-सा स्थान है जिसमें स्थावर जीव रहते हैं—ऐसा ३४३ घनराजू प्रमाणलोक है ।

कर्मबहुल लोक के बन्धकारणत्व का अभाव—इस लोक में सर्वत्र कार्मण वर्गणायें भरी है । सो लोक कोई अलग की वस्तु नहीं है किन्तु छहों द्रव्यों का समवायात्मक जो क्षेत्र है उसका नाम लोक कहलाता है । उस लोक में रहने वाले रागी-द्वेषी, मोही जीव कर्मबन्ध करते हैं, वे लोकक्षेत्र के कारण नहीं, जो कर्म भरे हुए हैं उनके कारण नहीं, अथवा अन्य कुछ समूह पड़ा हुआ है इसके कारण नहीं, किन्तु वहाँ अपने स्नेह भाव के कारण राग द्वेष, मोह विभावों के कारण कर्मबन्ध करते हैं ।

सचित्ताचित्त वस्तुधात के बन्धकारणत्व का अभाव—दूसरी बात दृष्टान्त में यह बतायी गई है कि वह सचित-अचित वस्तुओं का धात करता है इस कारण भी कर्मबन्ध नहीं होता किन्तु उस प्रक्रिया में जो इसका स्नेहभाव है रागद्वेष, मोहभाव है उसके कारण बंध होता है । जीवों को प्राणवियोग में साक्षात् निमित्त है आयु का क्षय है, आयु के क्षय बिना जीवों का मरण नहीं होता, जहाँ आयु का क्षय हो वहाँ मरण होता है या कि क्षय का निमित्त है, जो शरीर में मर्मस्थान है, उन मर्मस्थानों में पीड़न हो, वैसे भी समय पाकर आयु का क्षय होता, फिर अकाल मरण में भी निमित्त होता है कि मर्मस्थान में कोई धात हो जाये । तो मर्मस्थान में

आत्मप्रदेश है। विकृत परिणाम हैं। और पुद्गल में ये सर्वपुञ्ज हैं ये सब पिण्ड हुए, ये सब मर्मस्थान हुए, ये सब अचेतन पदार्थ हैं, मर्म भेदे जाने पर भी आयु का क्षय हो जाने पर भी मरण हुआ ऐसी स्थिति में भी जीव का जो कर्मबंध है वह पर जीव के मरण के कारण नहीं हुआ। दूसरा जीव शरीर से निकल गया इसलिये दूसरे का बंध हो जाये, ऐसी साक्षात् निमित्तता नहीं है किन्तु इस हिंसक ने स्वयं अपने आप में अशुभ परिणाम किया, राग-द्वेष भाव किया उस स्नेह भाव के कारण उसके बंध हुआ।

शस्त्रव्यायाम के बन्धकारणत्व का अभाव—फिर तीसरी बात बतायी गई है कि उसने जो शस्त्रों से व्यायाम किया है वह व्यायाम उसके बंध का कारण है, पर वह व्यायाम क्या है? हाथ-पैर का सञ्चालन। यह हाथ-पैर का सञ्चालन किस प्रकार होता है? इसमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हैं, जीव ने अपने आपमें सङ्कल्प विकल्प की इच्छा की। उस विकल्प और इच्छा के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्द होने के निमित्त को पाकर शरीर में जो वात तत्त्व है, उसमें परिस्पन्द हुआ, उसके अनुकूल यह वायु चली। और जिस अनुकूल शरीर के वात में परिणति होती है उस अनुकूल इसके **औजर** उठे, सो यह जो समस्त व्यायाम है, हलन-चलन है इसका साक्षात् निमित्त आत्मा नहीं है किन्तु परम्परा से निमित्त आत्मा का विभाव है, हिलने-डुलने में साक्षात् निमित्त है वायु का चलना और उस वायु के चलने का निमित्त हो गया प्रदेश परिस्पन्द। उस योग परिस्पन्द का निमित्त **साक्षात्** विकल्प इच्छा है। समाधिशतक में लिखा भी है कि—“प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितान् वायु, शरीरयन्त्राणि वर्तन्ते सर्वेषु कर्मसु।” तो इस प्रकार के व्यायाम की क्रिया से इस जीव के कर्मबन्ध नहीं होते। किन्तु उस **असक** में जो इस जीव ने राग द्वेष मोह भाव किया उस परिणमन का निमित्त पाकर कर्म का बन्ध हुआ।

दर्शक प्रयोजकादि परिकर के कर्मबन्धहेतुत्व का अभाव—फिर इसके बाद बताया कि वहाँ जो अनेक दर्शक लोग भी खड़े हैं ना, तो उन दर्शकों को बताने के लिए ही तो घात किया है, व्यायाम किया है, दर्शक न होते तो कर्मबन्ध न होता, ऐसी एक बोगस शङ्का भी की जा सकती है। अथवा वहाँ जो अनेक और परिकर उपस्थित हैं, वस्तुयें उपस्थित हैं वे सब कर्मबन्ध का कारण हैं। **समाधान**— वे दर्शकादि जन असमानजातीय द्रव्य पर्यायें हैं। वे तीन चीजों का पिंडोला हैं-जैसे कि हम भी पिंडोला हैं। वह व्यायाम करने वाला भी तीन चीजों का पिंडोला है-क्या शरीर वर्गणायें, कार्मण वर्गणायें और आत्मा। इन तीन जातियों का पिंडोला है। सो ये तीनों अर्थात् वे सब दर्शकादि परिकर इस व्यायामकर्ता से पृथक द्रव्य हैं वे सब संसारीजन समस्त परिकर खुद अपने आप में अपनी परिणति करते हुए परिणमते हैं। उनका परिणमन, उनका द्रव्य, गुण पर्याय कुछ भी उनमें से निकलकर इस व्यायामकर्ता में नहीं आते, उनके कारण बन्ध कैसे होगा। वहाँ पर भी जो इस जीव ने स्वयं मोह रागद्वेष भाव किया है उससे बन्ध हुआ है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि जीव रागद्वेषादिक भाव करे तो बन्ध होता है बाह्य परिकर मिले उससे बन्ध नहीं होता है।

प्रायोजनिक दृष्टि—इस प्रकरण में एक बात और भी खास जानने की है जिसे आस्त्रवाधिकार में बता भी चुके हैं कि नवीन कर्मों के आश्रव का निमित्त उदय में आये हुए कर्म होते हैं और उदय में आये हुए कर्मों

में नवीन कर्मों के आस्त्रवण करने का निमित्तपना आ जाये, इसमें निमित्त होते हैं राग द्वेष मोह परिणाम । इस प्रकार नवीन आस्त्रवों का निमित्त रागद्वेष मोह भाव को बताया है । यह प्रायोजनिक दृष्टि से यहाँ कहा गया है कि जीव का उपयोग जब राग में एकता को प्राप्त होता है तब बन्धन होता है । इस तरह के बन्ध की यहाँ उपेक्षा की गई है कि जो राग आदि हो रहे हैं पर उपयोग उनके साथ एकता नहीं करता है ऐसी परिस्थिति पर यहाँ दृष्टि नहीं दी ।

संसारवृक्ष को उखाड़ने का पुरुषार्थ—भैया ! पुरुषार्थपूर्वक जानकर ज्ञान द्वारा कर सकने का कोई ज्ञान है तो पर पदार्थों से और पर भावों से भिन्न समझ लेना, भिन्न रूप से श्रद्धान करना यहाँ तक अपना कार्य है इसके पश्चात् इसी प्रज्ञा बल के कारण जो जिस समय होना है होता है । जैसे कोई वृक्ष खड़ा है तो उस वृक्ष की जड़ों को उखाड़ देने का काम तो पेड़ काटने वाले ने दो-चार घण्टों में कर दिया । उस पेड़ को जड़ से उखाड़ देने पर भी अभी उसकी पत्तियां हरी हैं । वे हरी पत्तियां हरेपन को छोड़कर सूखी हो जायें ऐसा सूखने में उनको विलम्ब लगता है और समय के अनुसार जैसा विलम्ब लगना है, लगता है ।

संसारमूलच्छेद का उपाय वस्तु स्वातन्त्र्य अवगम—इसी प्रकार इस मोह भाव को उखाड़ने के लिए हमें पुरुषार्थ चलाना है, वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान करना पर-पदार्थ अपने जैसे स्वरूपास्तित्व को लिए हुए हैं उस स्वरूपास्तित्वमय पर-पदार्थों को निरखना, अपने स्वरूप से है, पर के स्वरूप से नहीं हैं ऐसा भावात्मक अस्तित्व वस्तुत्वमय अपने सत्त्व को निरखना, सर्व पदार्थ अपने आप में हैं । किसी भी पदार्थ के द्रव्य गुण पर्याय का किसी अन्य पदार्थ में प्रवेश नहीं है । रही उपयोग परिणमन की बात, सो उपादान की ऐसी प्रकृति कि वह विकार परिणम योग्य है तो अपना विकार परिणमन अनुकूल निमित्त को पाकर यह उपादान अपनी ही परिणति से विकाररूप परिणम जाता है तो ऐसी चतुष्टयात्मक स्वतन्त्रता वस्तु का स्वरूपास्तित्व जब दृष्टि में होता है तब वहाँ यह बुद्धि नहीं ठहर सकती कि एक वस्तु की दूसरा वस्तु कुछ लगती है ।

अनन्त खेद का मूल मोह—मोही जीव किन्हीं भी पर पदार्थों के बारे में ऐसा विश्वास बनाता है, सोचता है कि यह चीज मेरी है, मकान मेरा है, धन मेरा है, पुत्र-स्त्री मेरे हैं, पर वास्तव में उसके कुछ नहीं हैं, क्योंकि यदि उसके होते तो सदा उसके साथ रहते । सो वे हैं पर पदार्थ और मानता है कि मेरा है, और वे पदार्थ अपने समय के अनुकूल विघट जायेंगे, चले जायेंगे । तो उस समय चूंकि इसे मोह है, पर पदार्थों में प्रीति लगाये हैं सो उनको विघटता हुआ देखकर यह अपने मन में बड़ा खेद मानता है । तो यह मोहभाव जो अनन्त खेद की जड़ है वह कैसे मिटे? यह मोहभाव वस्तु स्वरूप के अवगम से मिटता है ।

सम्बन्ध बुद्धि मिटने का उपाय असम्बन्ध बुद्धि होना—मोह कहते हैं एक वस्तु के दूसरी वस्तु के साथ सम्बन्ध बुद्धि करने को सम्बन्ध मानने को । तब मोह मिटाने के लिये क्या करना है कि सम्बन्ध मानना न रहे तो मोह मिट जाये । सम्बन्ध मानने का नाम मोह है तो सम्बन्ध न मानने का नाम मोह का विनाश है तो अनेक पदार्थों में सम्बन्ध न माना जाये । ऐसा प्रकाश कैसे प्रकट हो? समस्त वस्तुयें अपने-अपने हैं । अस्तित्व में हैं, अपने ही अपने द्रव्य गुण पर्याय में हैं, ऐसा दृढ़ निर्णय हो तो सम्बन्ध मानने की कल्पना

खत्म हो अर्थात् मोह मिट जायेगा तो मोह मिटाने का पुरुषार्थ है ज्ञान करना । वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कर लेना । लो अब मोह न रहा, मोह मिट गया, मोह को यों समाप्त किया गया ।

राग विनाश का साधन—अब पूर्वबद्ध जो कर्म हैं उनके विपाक में जो राग चल रहे हैं उन रागों के मेटने का भी उपाय यद्यपि इस ही ज्ञान की स्थिरता है ऐसा ज्ञान स्थिर रहे, ऐसी ही प्रतीति ऐसा ही उपयोग रहे जिसके प्रताप से मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों में अन्तर आ गया । तो राग मेटने का वह उपाय यद्यपि इस ज्ञान की स्थिरता है, पर ज्ञान की स्थिरता करने के लिये और क्या ज्ञान करना है बस इस रुचि और मग्नता की स्फूर्ति के प्रसाद से ये सब बातें होंगी । तो राग जो विनष्ट होगा वह अपने समय पर विनष्ट होगा । इसमें भी हम ऐसा पुरुषार्थ नहीं कर पाते हैं-जैसे कि मोह के नाश करने का स्पष्ट पुरुषार्थ कर लेते हैं, जान लिया कि वस्तु की स्वरूप सत्ता स्वतन्त्र है इस प्रकार की दृढ़ धारणा हो गई, श्रद्धान हो गया अब लो मोह नहीं रहा । पर जो राग अभी शेष है वह राग मिटेगा । इस ज्ञानबल से पर वह अवशिष्ट राग संसार का बन्धन नहीं करा रहा है ।

संसारप्रयोजक बन्ध के अभाव में अबन्धकता—संसार भाव मिथ्यात्व भाव का नाम है । इस सम्यग्दृष्टि के जन्म और मरण की परम्परा बढ़ाने की स्थिति रखे ऐसा राग परिणाम नहीं है । संसार को बढ़ाने की स्थिति रखें ऐसी परिणति है मोह परिणति । तो उस मिथ्यात्व परिणति में जो बन्ध होता है उसे प्रायोजनिक दृष्टि में बन्ध माना है और इसके अतिरिक्त जो बन्ध है, जिसकी करणानुयोग में चर्चा है वह यद्यपि बन्धन है, पर जन्म-मरण की परम्परा न बढ़ा सकने से वह बन्धन नहीं है । इस तरह जीव के कर्मबन्ध की स्थिति में जो बाह्य कारण हैं, उपकरण हैं, घटनायें हैं उन सबसे प्रश्नोत्तर करके यह निर्णय दिया गया है कि जो उपयोग में रागादिक किए जा रहे हैं वे बन्ध के कारण हैं, बाह्य पदार्थ कुछ भी परिणाम में वह इस जीव के बन्ध का कारण नहीं हैं ।

गाथा २४७

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।

सो मूढ़ो अण्णाणी णाणी एत्तो हु विवरीदो ॥२४७॥

मैं दूसरे जीवों को मारता हूँ और दूसरे जीवों के द्वारा मारा जाता हूँ ऐसा जो आशय है वह अज्ञान भरा आशय है । ज्ञानी पुरुष इसके विपरीत होते हैं, अर्थात् किसी पर के सम्बन्ध में विकल्प न रखकर जीवन-मरण आदिक में, लाभ अलाभ आदिक में समता परिणाम से तृप्त होकर आत्मानुभव में रत होते हैं ।

मैं का यथार्थ निर्णय करना आवश्यक—भैया ! मैं क्या कहूँ इसके यथार्थ निर्णय बिना इन ग्रन्थों का आशय ठीक नहीं बैठ सकता । यहाँ निज सहज स्वरूप को अहं बताया गया है, जो आत्म पदार्थ के सत्त्व के कारण स्वयं स्वरसतः जो कुछ भावरूप है उस भावरूप में नय को दिखाया है और इस स्वरूप को जानने

की आवश्यकता भी अधिक थी। कारण यह है कि इस जीव ने आज तक पर्यायों में ही आत्मद्रव्य की बुद्धि करके राग-द्वेष बढ़ाया, मोह अज्ञान फैलाया और उस राग, द्वेष, मोह के परिणाम में कर्म बन्ध हुआ, उदय हुआ, विपाक आया, क्षोभ हुआ, इस तरह की परम्परा को हम **रुलाते** चले आए हैं।

आत्मा का रमने का स्वभाव—हम किसी न किसी ओर झुकते तो अवश्य हैं क्योंकि चारित्र आत्मा का स्वभाव है, वह किसी न किसी ओर रमेगा जरूर। तो हम किस ओर रमें जिससे कि छूटकारे का मार्ग मिले, उस तत्त्व का इसमें वर्णन है। वस्तुस्वरूप वस्तु में मिलता है, वस्तु से बाहर नहीं होता। हमारा भी जो स्वरूप है वह हम में ही है, हम से बाहर नहीं है, हमारा जितना भी परिणमन है वह हम में ही है, हमसे बाहर नहीं है, चाहे विकार परिणमन हो, अज्ञान परिणमन हो पर मेरा परिणमन मेरे से बाहर कहाँ रहेगा? मेरा परिणमन जब मेरे से बाहर कभी होता नहीं तो पर को कर देने का परिणमन देने का मुझमें कहाँ माद्दा है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो चलता है, ठीक है, पर अपने परिणमन से किसी अन्य का परिणमन होता है ऐसा स्वरूप नहीं है किन्तु जो जीव विभाव रूप परिणमते हैं उस-उस जाति के कर्मोदय का निमित्त होने पर और अनेक बाह्य पदार्थों का सान्निध्य होने पर जीव अपनी परिणति द्वारा विभावरूप परिणमा करता है।

उपाधि की सन्निधि बिना विकार की असम्भवता—इस जीव में यह विभाव परिणमन जीव के सत्त्व के कारण जीव के स्वरस से नहीं बना करता। ऐसा नहीं है कि जीव में यह परिणमन जीव ने बांध रखा हो, भावी काल के अनन्त परिणमन बांध लिये हों और उन्हें क्रम-क्रम से व्यक्ति में लेते हों ऐसी बात नहीं क्योंकि उन परिणमनों को यह जीव स्वरसतः यदि परिणमन करता है तो फिर इसे विभाव क्यों कहा जाये? यही प्रश्न यहाँ किया जाये कि रागद्वेषादिक परिणाम विभाव क्यों कहलाते हैं? उसके उत्तर में यदि यह कहा जाये कि चूंकि एक ज्ञान स्वभाव से विरुद्ध परिणमन विभाव है, बात तो सही है कि हमारे स्वभाव से विपरीत है। पर यह विपरीत परिणमन क्यों हुआ? यह आत्मा के स्वभाव से होता है तो फिर वह कभी छूट नहीं सकता। यदि आत्मा में ऐसा अटपट स्वभाव पड़ा हो कि कभी यहाँ विभाव परिणमन हो, कभी स्वभाव परिणमन हो जब चाहे विभाव परिणमन आ जाये। सो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की व्यवस्था स्वीकार किए बिना आत्मा के रागद्वेषादिक परिणामों को विभाव नहीं कहा जा सकता।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध और वस्तु स्वातन्त्र्य—कदाचित् इस प्रकार बात उपस्थित की जाये कि आत्मा विभाव परिणमन करता है, उस समय जो सन्निधि में रहता है उसको निमित्त माना जाता है और जिस परिणमन में किसी पर निमित्त का आरोप हो उस परिणमन को विभाव परिणमन कहते हैं। तो ऐसी स्थिति में भी किसी पर निमित्त के आरोप की आवश्यकता क्या हुई? हो रहा है तो होने दो। निमित्त संज्ञा तब दी जाती है जब ऐसी स्थिति हो कि किसी पर का निमित्त पाकर उपादान विभाव रूप परिणमता हो। उपादान तो पर्याय बंधी होने के कारण स्वयं विभावरूप परिणम। अब सामने उपस्थित होने वाले पदार्थों पर निमित्त का आरोप करो या न करो तो उससे क्या लाभ है? हाँ निमित्त संज्ञा जो है हमें तब विदित होती है जब नैमित्तिक भाव कषाय और मोह हो। पर नैमित्तिक भाव जो होते हैं वे किसी निमित्त की सन्निधि को पाकर

होते हैं। उस उपस्थिति में भी उपादान अपनी परिणति द्वारा विकार करते हैं। ऐसी वस्तु की अपनी स्वरूप सत्ता की पूर्ण स्वतन्त्रता है जो परिणति द्वारा विकार करते हैं। हाँ विकार होने के बाद निमित्त का व्यवहार, निमित्त की संज्ञा हम दिया करते हैं। तो नैमित्तिक कार्य होने के बाद निमित्त का ज्ञान होता है कि यह निमित्त था पर नैमित्तिक कार्य द्रव्य में बंधा हुआ होने के कारण हो और उस समय किसी पर निमित्त का आरोप हो ये सब न्याययुक्त बातें नहीं हैं।

उपादान विकार निमित्त द्वारा अकृत और निमित्तसन्निधि बिना असम्भव—यद्यपि इस जगत में जितने भी विपरीत परिणमन हो रहे हैं वे सब निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध पूर्वक हो रहे हैं। इतने पर भी कोई पदार्थ अपने स्वरूपास्तित्व से बाहर नहीं जाता। निमित्तभूत पदार्थ अपने द्रव्य गुण पर्याय उसका जो कुछ भी है वह अपने प्रदेश से बाहर डालकर किसी पर उपादान को नहीं परिणमाता, किन्तु सम्बन्ध इस प्रकार का विलक्षण है कि निमित्त को पर को परिणमाने की आवश्यकता नहीं है। उपादान स्वयं ऐसे अनुकूल निमित्त को पाकर अपनी योग्यता के अनुकूल अपने में विभाव परिणमन कर लेते हैं। जब वस्तु की स्वतन्त्रता की ऐसी स्थिति है फिर भी यह भाव करना कि मैं पर को मारता हूँ या पर के द्वारा मैं मारा जाता हूँ ऐसा अभिप्राय जो करे उसे मूढ़ और अज्ञानी कहा है।

नैमित्तिकता जानने का प्रयोजन निमित्त में व नैमित्तिकता में रुचि का परिहार—इस प्रसंग में तीक्ष्ण स्वरूप दृष्टि रखना है, अन्यथा कोई किसी को मारता जाये और कहता जाये कि कहाँ मारता हूँ। मैं मारता हूँ ऐसा कोई कहे तो वह मूढ़ है, अज्ञानी है, मैं नहीं मारता हूँ, ऐसा तो कहे और अन्तर में निवृत्ति का कोई यत्न ही न हो तो वहाँ एक विडम्बना बन जाती है। तो यह आत्मा एक चैतन्य स्वभावमय पदार्थ है। इसके सहज स्वरूप में केवल चैतन्य-प्रकाश जो निराकुल है, जिसका स्वभाव समस्त सत् के जानने का है, ऐसा यह चैतन्य स्वभाव मात्र मैं आत्मा जो नाना विकारों रूप परिणम गया हूँ, नाना दशाओं रूप बन गया हूँ, यह सब निर्माण मेरे स्वभाव से नहीं हुआ है, ऐसा उपादान है। विभाव शक्ति है कि पर उपाधि के होने पर आत्मा में ऐसे विविध परिणमन प्राप्त होते हैं पर मैं तो सहज ज्ञान मात्र हूँ, ऐसे ज्ञान स्वरूप का ही स्पर्श करूँगा, अन्य जो चीजें इस उपाधि के निमित्त से होती हैं वे चीजें मैं तो उनको सहूँगा।

आत्मतत्त्व की निमित्त से व नैमित्तिक से विविक्तता—भैया ! नैमित्तिक परिणामों का अन्वय व्यतिरेक निमित्त के साथ है, ऐसा नहीं है कि आत्मा हो तो राग-द्वेष हों ही। जैसे कर्मों का कर्मों के उदय से सम्बन्ध है, अमुक प्रकार का होने पर अमुक विभाव होते हैं, ऐसा सम्बन्ध मेरे विभावों का मेरे स्वयं के स्वभाव के साथ नहीं है, बल्कि उदय के साथ उनका अन्वय व्यतिरेक है। मैं ज्ञान स्वभाव अपने आपको अनुभवता हूँ, ऐसा सबसे विविक्त चैतन्य मात्र यह आत्मा जो कुछ करता है वह अपने भावों को ही करता है। उपाधि के सम्बन्ध में वे भाव शुभ या अशुभ होते हैं और निरुपाधि दशा में शुद्ध भाव होता है, केवल जानन मात्र भाव रहता है, उसके साथ विकल्प या रागादिक भाव नहीं होते हैं। ऐसा सर्व विविक्त चैतन्य मात्र यह मैं आत्मा किसी भी पर पदार्थ का कर्ता हूँ ऐसी श्रद्धा हो तो अन्तर में तो उस श्रद्धा वाले ने अपना स्वरूप बिगाड़ लिया

।

अपनी बुद्धि में देवत्व का बिगाड़—जैसे किसी अतिशय क्षेत्र पर या किसी क्षेत्र पर जाकर कोई गृहस्थ भगवान का पूजन करता है कि ये वीर प्रभु सब कुछ देते हैं, धन, मकान, पारिवारिक सुख सब कुछ ये देते हैं ऐसा जानकर उस वीतराग प्रभु की मूर्ति की पूजा करे तो उसने तो देव को कुदेव बना दिया है और कुदेव बनाकर उसे पूज रहा है। वह तो जो है सोई है। एक पाषाण बिम्ब है, ज्ञानी संतों ने उसमें देव की स्थापना की है और उस मोही अभिलाषी पुरुष ने रागी कुदेव की स्थापना की है, अज्ञानी का आशय है कि यह भगवान सबको धन देते हैं। देखो, अमुक ने बोलकर छत्र चढ़ाया था, सो उसे कितना सुख इन वीर प्रभु ने दिया है ऐसा जो स्वरूप मानता है उसने तो देव स्वरूप ही बिगाड़ दिया। जो यथार्थ स्वरूप है उसके स्वरूप को कोई बिगाड़ नहीं सकता किन्तु अपने उपयोग में उस देव का स्वरूप उसने बिगाड़ दिया।

अपनी बुद्धि में आत्मत्व का बिगाड़—इसी प्रकार जो अपने को पर का कर्ता समझता है, मैं पर पदार्थ का कर्ता हूँ, मैं इनका सुधार बिगाड़ कर दूंगा इस प्रकार पर के सम्बन्ध में आपके कर्तृत्व का आशय करता है उसने अपने आपके स्वरूप को बिगाड़ दिया। हां, परमार्थ दृष्टि से ऐसा ज्ञान लेना तो ठीक है कि देखें—पदार्थ तो सब अपने स्वभाव से अपने शुद्धस्वरूप हैं किन्तु कैसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है ऐसी स्थिति में अमुक पदार्थ यों परिणम गया, ऐसा ज्ञान करना प्रमाण युक्त है, फिर भी ज्ञान कर चुकने के बाद हम प्रयत्न किस बात का करें? निमित्तों के देखने का यत्न करें या अपने आपके सहज स्वरूप के देखने का यत्न करें।

ज्ञातव्य और कर्तव्य—यह तो एक यथार्थ विज्ञान है कि कोई भी पदार्थ विकार रूप परिणमता है, तो यह किसी पर का निमित्त पाकर ही परिणमता है, अपने आपके स्वरूप के कारण उल्टा परिणमने लगे ऐसा पदार्थ का स्वरूप नहीं है, ज्ञान कर लिया। देखा भी जाता है और आगम में भी स्पष्ट है कि क्रोध प्रकृति का उदय हो तो क्रोध भाव होता है और लोक व्यवहार में मान की स्थिति जुट जाये, मान का उदय चल रहा है तो मानी कहलाता है। साथ ही यह भी सत्य है कि निमित्त का द्रव्य गुण पर्याय कुछ अंश ग्रहण किये बिना ही उपादान उस स्थिति में अपनी परिणति से परिणमता है। यह सब दिख जाने पर और ऐसा निर्णय कर लेने पर अब हमको करने का काम क्या रहा? करने का काम यह नहीं है कि ज्ञान निमित्त की दृष्टि बनाये रहे और इसी द्वैत भाव से किसी भी सम्बन्ध को हम देखते रहें, बोलते रहें, निरखते रहें, यह कर्तव्य नहीं है! वह तो एक ज्ञान करने की बात है। कर्तव्य तो यह है कि ऐसा यत्न करें जिस यत्न से अशुद्ध तत्त्व की दृष्टि न रहे, स्थिरता रहे, अशुद्ध विचार न रहें और शुद्ध परिणामों की परिणति बने।

अशुद्ध निवृत्ति व शुद्ध वृत्ति का यत्न आवश्यक—अशुद्धता से छूटने और शुद्धता में बढ़ने के यत्न में जो योग बन सकता हो, करना चाहिये। अशुभोपयोग से बचने के लिए यद्यपि सीधा हम में यह सामर्थ्य नहीं है कि हम एकदम शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के तत्त्व की दृष्टि में स्थिर हो सकें। तो क्या अशुभोपयोग जब हो रहा है तब अशुभोपयोग से दूर होने का यत्न न करना चाहिये? ब्रत, तप, संयम, सत्संग, स्वाध्याय, परोपकार, परसेवा, इन परिणामों से यह तो लाभ है ना कि मेरे अशुभ परिणाम दूर होते हैं। ५ इंद्रिय के अपने विषयों

में उपयोग जाना अशुभ परिणाम है। आत्महित की साधना के विरुद्ध साधना के कषायों में लगना तोत्र कषाय है अथवा विषय कषायों से बचने के लिए हम शुभोपयोग करें।

शुभोपयोग होने पर भी दृष्टि की विशुद्धता—किन्तु शुद्ध उपयोग का लक्ष्य न भूलें। शुभोपयोग में ये ६ कर्तव्य आते हैं—देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। ये ६ कर्तव्य करें, पर पदार्थ ज्ञान हम बनाये ही रहें कि इस शुभोपयोग करने का प्रयोग अशुभोपयोग से बचकर ऐसा बल जागृत करने के लिये हैं कि जिससे हम शुद्ध ज्ञान की किसी भी क्षण झलक ले सकें। निर्विकल्प स्वभाव में उपयोग बसाने का लक्ष्य होगा तो हमारा यह शुभोपयोग भी वास्तविक मायने में कार्यकारी बनता है।

अक्षय शान्ति स्रोत आत्मस्वभाव—शान्ति का स्रोत यह आत्मस्वभाव है। जब चित्रकाश मात्र मैं हूँ ऐसा अनुभव में आता है। ऐसी स्थिति पाने के मुख्य अधिकारी निर्गन्थ साधुजन होते हैं और उनकी ही मुख्यता से उनको सम्बोधने के लिये इस समयसार ग्रन्थ का निर्माण हुआ। पर ऐसा नहीं है कि जो सहज बात, स्वरूप की बात साधुजनों को कार्यकारी होती है वह अन्य मनुष्यों को नहीं होती। ऐसी बात नहीं है पर उस पर स्थिर हो सकने का अधिकार उसको ही है जो चिंताओं से पृथक् है। आरम्भ परिग्रह से दूर है, मान अपमान, जीवन मरण, लाभ अलाभ, सुख-दुःख इन विकल्पों से परे है, केवल एक शुद्ध आत्म तत्त्व में रुचि रखता है, वह ही इस ज्ञानस्वभाव के साधने का पूर्ण अधिकारी है, पर झलक जब तक उस शुद्ध ज्ञानस्वभाव की नहीं प्राप्त होती है तब तक सम्यक्त्व नहीं कहा जा सकता।

किसी का किसी पर में कर्तव्य असम्भव—अनेक सम्यग्दृष्टि होते हैं। तो सम्यक्त्व और प्रयोजनभूत ज्ञान इन दोनों में सब सम्यग्दृष्टियों की समानता है। पर अब चारित्र की विशेषता से उच्च गुणस्थान बनता जाता है। जिस जीव को ऐसा अमूर्त शुद्ध चित्रकाशमात्र अपने आत्मतत्त्व का अनुभव हुआ है वह यह विकल्प कैसे करेगा कि मैं किसी पदार्थ को यों परिणमा सकता हूँ। मैं अपने भावों के अतिरिक्त अन्य कुछ करने में अशक्त हूँ। प्रत्येक द्रव्य अपने आपके गुण परिणमन करने के अतिरिक्त अन्य कुछ करने में समर्थ नहीं है वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

अस्तित्वसमर्थन—वस्तु में जो ६ साधारण गुण हैं उनमें जो पहिले चार गुण हैं उन चार गुणों से इस पदार्थ में बड़ी व्यवस्था बनी हुई है। अस्तित्व गुण से पदार्थ है पर अस्तित्व गुण यों उद्घण्ड नहीं हो सकता कि चौकी है ना, तो यह पुस्तक भी है या कमरा भी है, इस प्रकार से सत्त्व उद्घण्ड नहीं हो सकता। इस उद्घण्डता को रोकने के लिए वस्तुत्व गुण लगा हुआ है, पदार्थ है तो सही पर वस्तुत्व गुण यह प्रकट कर देता है कि यह अपने स्वरूप से है पर के स्वरूप से नहीं है, अतः अस्तित्व और वस्तुत्व दोनों बातों से वस्तु का सत्त्व ज्ञात हो गया।

परिणमनसमर्थन—पर अब वह पदार्थ मात्र सत् ही है। वह कुछ परिणमें नहीं, उसमें परिवर्तन न हो तो वह सत् नहीं रह सकता है। कोई पदार्थ हो और उसकी दशा न हो, अवस्था न हो, रूपक न हो, क्या ऐसा भी कोई पर्यायशून्य, परिणमनशून्य पदार्थ होता है? यदि ऐसा है तो वह पदार्थ ही नहीं है। जब वह

पदार्थ है तो फिर उस पदार्थ का परिणमन भी अवश्य है। परिणमन न हो तो अस्तित्व का अभाव हो जायेगा।

स्वयं के स्वयं में ही परिणमन की नियामकता—इस वस्तु की रक्षा बताने वाला है द्रव्यत्व गुण। द्रव्यत्व गुण से वस्तु ने यह तो सीखा कि परिणम गया, पर यदि वह उद्धण्ड होने लगे, मुझे तो परिणमने का अधिकार मिला है मैं चौकी रूप परिणम्, पुस्तक रूप परिणम्, पुद्गल रूप परिणम्, किसी रूप परिणम्, तो ऐसी उद्धण्डता वस्तु की न चल सकेगी। कारण यह है कि आत्मा का अगुरुलघुत्व आत्म वस्तु में स्वतः सिद्ध पाया जाता है, जिसका यही काम है कि पदार्थ न वजनदार बन सके और न हल्का बन सके। सो अब हम परिणमेंगे तो किन्तु वजनदार न बन सकेंगे, हल्का न बन सकेंगे, न गुरु बन सकेंगे, न लघु बन सकेंगे। पदार्थ वजनदार बनता है जब किसी दूसरे पदार्थ के गुण उसमें आ जायें और पदार्थ हल्का तब बनता है जब उस पदार्थ के गुण किसी दूसरे पदार्थ में चले जायें। मेरे गुण किसी दूसरे पदार्थ में जाने लगें तो मैं हल्का हो जाऊँगा, ऐसा नहीं हो सकेगा अर्थात् अपने ही गुणरूप परिणमूँगा, दूसरे के गुणरूप नहीं परिणमूँगा।

मैया ! वस्तु के इस स्वरूपास्तित्व का जब परिचय होता है तो वह पुरुष तो श्रद्धा में अकर्ता हो जाता है। मैं अपने परिणमन को छोड़कर अन्य कुछ करने में समर्थ हूँ ऐसी श्रद्धा सम्यग्दृष्टि पुरुष के नहीं है। तब मैं दूसरे को मारता हूँ, दूसरों के द्वारा मारा जाता हूँ ऐसी भावना भी सम्यग्दृष्टि के कैसे हो सकती है। मैं सर्वत्र अपने विकल्प कर रहा हूँ, विकल्पों के सिवाय मैं और कुछ नहीं करता। ऐसा निर्णय जगने पर बाह्य में कर्तृत्वबुद्धि नहीं आती। कर्तृत्वबुद्धि मिटने से अपने को एक अपूर्व शांति प्राप्त होती है।

घातपरिणामविषयक अज्ञानभाव—मैं दूसरे जीवों को मारता हूँ, दूसरे जीवों के द्वारा मारा जाता हूँ, ऐसा जो अध्यवसान है वह अज्ञान भाव है। वह अज्ञानभाव जिसके होता है वह अज्ञानी है और इसी कारण मिथ्यादृष्टि है। जिसके यह अध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है। अब प्रश्न किया जा रहा है कि यह अध्यवसाय अज्ञान क्यों है?

गाथा २४८-२४९

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णतं ।

आउं ण हरेसि तुमं कह तं मरणं कयं तेसि ॥२४८॥

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णतं ।

आउं ण हरति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

मरण का कारण आयुक्षय—जीव का मरण आयु के क्षय से होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। हम दूसरे की आयु नहीं हर सकते इसलिये उनका मरण हमने कैसे किया? मरण होता है आयु के क्षय से। आयु के क्षय का निमित्त मर्मघात आदिक भी हैं पर यहाँ साक्षात् निमित्त की बात चल रही है कि मरण आयु के क्षय के निमित्त से होता है। क्योंकि जब तक आयु है तब तक मरण नहीं कहला सकता, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने

कहा है।

अकाल मृत्यु—इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह कहते हैं कि अकाल मौत कोई चीज नहीं होती है, जितनी भी मौत होती है वह सब काल मरण कहलाता है, उसमें युक्ति यह देते हैं कि जिसका जब जो मरण होता है वह भगवान ने जान लिया। जब मरण होता है तब मरण होगा ही, अतः अकाल मरण कहाँ हुआ। पर अकाल मौत का स्वरूप भगवान के ज्ञान की दृष्टि से नहीं है। किन्तु किसी जीव में आयु के निषेक इतने बंधे हैं कि एक-एक समय में आयु का निषेक खिरता रहे तो यह भव यानि ८० वर्ष रहेगा। इतने निषेक बंधे हैं और कदाचित तीव्र रोग हो जाये, शस्त्रघात हो जाये, ऐसी परिस्थिति में ८० वर्ष का समय बराबर निषेक सत्त्व रखने वाला मनुष्य ५० वर्ष की आयु में गुजर जाता है।

अकाल मरण का कारण—अकाल मरण के समय क्या होता है कि जो बाकी ३० वर्ष की आयु के निषेक हैं, वह सब उदीरित होकर ५० वर्ष के अन्त में अन्तर्मुहूर्त में खिर जाते हैं। अकाल मौत इसी का नाम है कि यदि कायदे के अनुसार एक-एक समय में एक-एक निषेक का उदय चलता रहे तो यह मनुष्य ८० वर्ष तक जीता, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। किसी व्याधि आदि के निमित्त से उसका बीच में ही उदीरणा मरण हो गया। इसको कहते हैं अकाल मरण।

ज्ञान और होनी स्वतन्त्रता—और जब इस दृष्टि से देखा जाये कि चूँकि भगवान सर्वज्ञदेव को सब ज्ञात है यद्यपि उनके ज्ञान की बात हम लोगों को विदित नहीं है और भगवान को भी उस प्रकार का विकल्प नहीं है पर सहज ही ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध से प्रभु के ज्ञान में सब कुछ ज्ञात है पर वह तो इस प्रकार ज्ञात है ना, जैसा जो हुआ है, हुआ था, होगा, भगवान के ज्ञान ने जाना इस कारण द्रव्य को नियत होना पड़ा ऐसा तो नहीं है। और पदार्थों में अमुक परिणमन है, हो रहा है, होगा इस कारण भगवान ने जाना यह भी नहीं है। भगवान ने भी अपनी ही शक्ति की परिणति से जाना; पर जानने में विषयभूत पदार्थ हुआ, परिणमन हुआ, होनी हुई पर उन होनियों का आश्रयभूत या विषयभूत भगवान का ज्ञान नहीं हुआ।

ज्ञान और होनी में विषय विषयी भाव—जहां तक हम भगवान के ज्ञान में और इस लोक के परिणमन में बाह्य कार्य-कारण भाव समझना चाहें तो यह तो कहा जा सकता है कि बाह्य पदार्थों को विषय करके भगवान का ज्ञान इस प्रकार परिणमा, पर यह नहीं कह सकते कि भगवान के ज्ञान का आश्रय पाकर, विषय पाकर, निमित्त पाकर पदार्थ यों परिणम गया। यद्यपि दोनों ही जगह परिणमन की स्वतन्त्रता है अर्थात् कोई भी पदार्थ किसी पर की परिणति को लेकर नहीं परिणमता। प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणति को लेकर परिणमा करता है फिर भी जैसा हुआ, जो है, जो होगा, इसको विषयरूप से करके भगवान ने जाना। इस धारणा से या इस ज्ञान को आश्रयमात्र करके या निमित्त करके इस पदार्थ में इस प्रकार का परिणमना हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। और, है दोनों जगह स्वतन्त्र परिणमन। अपेक्षा और अधीनता न पदार्थ को भगवान के ज्ञान की है और न प्रभु के ज्ञान को पदार्थ की अपेक्षा है, पर ऐसा ही सहज ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है कि इस प्रकार के ज्ञान की स्वच्छ वृत्ति में अपने आप ही वह प्रकाश चल रहा है। वह ज्ञेयाकार परिणमन

चल रहा है, उस प्रकार का जिस प्रकार कि लोक में पदार्थ अवस्थित है।

आउक्खये मरणं—अकाल मृत्यु भी होती है, उसमें भी मरण होता और आयु के क्षय के निमित्त से भी मरण होता है ऐसा जिनवर देव ने प्रज्ञापित किया है। अकाल मृत्यु में आयु का क्षरण अन्तर्मुहूर्त में एकदम उन सब निषेकों का हो जाता है जिनको अगले काल में खिरने को था, वे एकदम इस अन्तर्मुहूर्त में खिर गये इस कारण अकाल मौत है।

अकाल मृत्यु से मरण के सम्बन्ध में एक दृष्टान्त—दोनों ही स्थितियों में आयु क्षय से मरण हुआ। जैसे दृष्टान्त लीजिए कि एक छोटी मोटर १ लीटर पेट्रोल में ५ मील भागती है, और २० लीटर पेट्रोल पड़ा हुआ है तो उसे १०० मील तक चलना चाहिये, ऐसी उसमें शक्ति है, पेट्रोल भी भरा है और चलती भी है। कदाचित् वह मोटर ५ मील जाकर किसी पेड़ से टकरा जाये, पेट्रोल की टंकी फूट जाये, वह तो ५ मील ही चल सकी। इसके बाद मोटर आगे न जा सकी। इसमें तेल भरा हुआ था, हिसाब से चलती तो वह १०० मील चलती, पर ५ मील चलने के बाद एक वृक्ष से एक्सीडेन्ट हो गया तो उस ही जगह सारा का सारा पेट्रोल खिर गया। इसलिए आगे न बढ़ सकी, यह बात तो ठीक है, और बात भी ठीक है कि वह सारा पेट्रोल असमय में खिर गया। इसी तरह जिन जीवों की अकाल मृत्यु होती है उनकी शेष आयु के निषेक अन्तर्मुहूर्त में ही एकदम खिर जाते हैं, इसे उदीरण कहते हैं। तो सर्व निषेक जब खिरे तब उसका भव छूटा किन्तु वह सब जो निषेक स्थितियों से पहिले खिर गये उसका कारण है उदीरण और इसी को कहते हैं अकाल मृत्यु।

अकाल मृत्यु रहित जीव—कुछ जीव ऐसे हैं जिनकी अकाल मृत्यु नहीं होती है। जैसे भोगभूमिया मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी तथा चरमशरीरी, जिनको उस ही भव से मुक्त होना है। इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती है। और कर्मभूमिया मनुष्य, तिर्यञ्च, विकलत्रय, स्थावर जीव इनकी अकाल मृत्यु होती रहती है। चाहे अकाल मरण हो या काल मरण हो, मरण आयु क्षय से होता है।

घात के अध्यवसाय को अज्ञान कहे जाने का कारण—यहाँ यह बतला रहे हैं कि ऐसे परिणाम करना कि मैं किसी जीव को मारता हूँ और किसी जीव के द्वारा मैं मारा जाता हूँ यह अज्ञान परिणाम क्यों है? अज्ञान यों है कि ऐसा होता नहीं और मानते हैं, इसलिये इस अध्यवसाय को अज्ञान कहते हैं। मेरे द्वारा किसी दूसरे जीव की मौत होती नहीं है, उसकी मौत उसकी आयु के क्षय से होती है।

किसी से पर का घात होने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर—प्रश्न—कदलीघात किया जाता हो, कदली बांस आदि के पेड़ों पर शस्त्र चलाये जाते हों, वे पेड़ तुरन्त मर जाते हैं या किसी कीड़े वगैरह को मसल देते हैं तो तुरन्त मर जाता है, उसे मसला और तुरन्त मरा क्या यह असत्य है? उत्तर—भैया, ऐसा होने पर भी द्रव्य के स्वरूप को निरखते हुए निर्णय करो कि वहाँ जो-जो द्रव्य हैं उन-उन द्रव्यों ने क्या-क्या काम किया। उपादान से और निमित्त रूप से वह द्रव्य किस बात का निमित्त बना इन दोनों रूपों से निर्णय करने पर इसका समाधान होगा, सो सुनिये।

आत्मा का कार्य—प्रथम तो यहाँ अन्दर से चलिये । यह मैं आत्मा एक चैतन्य स्वभाव रूप हूँ, अमूर्त हूँ, इसमें जानने, देखने, रमने, आनन्द पाने आदि की अनेक शक्तियां हैं और उन शक्तियों का पुञ्जभूत यह मैं आत्मा हूँ । यह आत्मा जो कुछ कर सकेगा, वह अपना परिणाम कर सकेगा, अपने परिणाम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने में यह आत्मा समर्थ नहीं है ।

लोक व्यवस्था—यह वस्तु के स्वरूपास्तित्व को निरखकर ध्यान में लाना है । प्रत्येक द्रव्य मात्र अपने गुणों में अपना परिणमन कर पाते हैं और इसी कारण यह लोक व्यवस्था बनी हुई है । निमित्त-नैमित्तिक भाव का होना और प्रत्येक पदार्थ का मात्र अपने गुणों में ही परिणमन कर सकना, इन दो बातों की वजह से यह लोक टिका हुआ है, व्यवस्था बनी हुई है । इनमें से यदि कोई एक अंश निकाल दिया जाये, प्रत्येक द्रव्य अपने में अपने गुणों से परिणमता है एक यह अंश, और परस्पर एक-दूसरे के निमित्त को पाकर यह सब दृश्यमान रचना चल रही है एक यह अंश, इन दोनों अंशों में से यदि कोई अंश निकाल दिया जाये तो लोक व्यवस्था नहीं बन सकती ।

'द्रव्य का अपने स्वयं में ही परिणमन है' – यह न मानने पर आपत्ति—मानो यह अंश निकाल दें कि प्रत्येक द्रव्य अपने गुणों में अपनी परिणति से परिणमता है, यह न मानें तो इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी द्रव्य किसी द्रव्य की परिणति से परिणम गया । तब हुआ क्या कि कुछ इसमें नियत स्वरूप नहीं रहा । एक द्रव्य दो द्रव्यों का परिणमन कर चुका । तो जब कोई एक द्रव्य किसी रूप परिणम गया तो अब यह बतलाओ कि किस द्रव्य का सद्भाव माना जाये? और यों कोई किसी रूप परिणम जाये, कोई किसी रूप बन जाये तो सर्व सांकर्य हो जायेगा । सांकर्य क्या, सर्व का अभाव हो जायेगा, सो यह विशेषता टाली नहीं जा सकती ।

'विकार पर का निमित्त पाकर होता है' – यह न मानने पर आपत्ति—यह अंश तोड़ दिया जाये कि परस्पर के निमित्त भाव में यह दृश्यमान परिणमन चल रहा है अर्थात् निमित्त के बिना ही यह साग लोक अपने रूप से द्रव्य में परिणम रहा है यों मानकर उस अंश के तोड़ देने से यह आपत्ति आयी कि इस पदार्थ में उन-उन रूप में परिणमने की कला है, जितना भी विरुद्ध विकार परिणमन होता है उन-उन रूप में भी परिणमने वालों में अपने स्वभाव से एक कला है । जब अपने स्वभाव से ही एक कला हो गई तो अब उन्मत्तवत् अटपट परिणमने लगा । कुछ उसका कायदा-कानून युक्ति कोई ढंग नहीं बैठ सकता । कोई जीव है वह केवल ज्ञान रूप परिणम जाये, अब रागरूप परिणमे तो वहाँ कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, इस कारण ये दोनों ही बातें व्यवस्था को साबित करती हैं ।

आत्मा ने क्या किया—अब प्रकृत बात में चलिए । किसी पुरुष ने किसी कीड़े को मसला और वह मृत्यु को प्राप्त हो गया तो इस जगह में एक उपादान दृष्टि से और एक साक्षात् निमित्त की दृष्टि से वर्णन करते हुए चलें । उस समय उस पुरुष ने उस पुरुष का जो आत्मा है उस आत्मा ने केवल अपने परिणाम कर पाया है । यह उपादान दृष्टि से कथन चल रहा है । उस आत्मा ने तो हाथ भी नहीं हिलाया, अंगुली भी

नहीं मटकायी । इस कीड़े को वह आत्मा मसल भी नहीं पाया, वह तो मात्र अपने में अपने भाव कर रहा है ।

व्यापादन समय आत्मा किसका निमित्त हुआ—अब आत्मा किस चीज का निमित्त बन रहा है इस पर भी दृष्टि दें । अपने ज्ञान, अपनी इच्छा रूप परिणमता हुआ वह आत्मा वह पुरुष, समग्र, उपादान की दृष्टि से देखने पर यह भी साथ लगा लीजिये कि ज्ञान और इच्छा के साथ प्रदेश परिस्पन्द रूप परिणम रहा वह आत्मा क्या कर पाया है तो उसका काम हुआ कि ज्ञान हुआ, इच्छा हुई और प्रदेश परिस्पन्दरूप प्रयत्न हुआ । इसके आगे उसका और कोई काम नहीं हुआ । किन्तु इस प्रकार से परिणमते हुए उस आत्मा के निमित्त से शरीर में रहने वाली वायु का संचरण हुआ । सो **ज्ञान और योग परिणत आत्मा देह की वायु** के संचरण का निमित्त बना ।

आत्मा में निमित्तों का विश्लेषण—इस भाव में और भी इसका विश्लेषण करके निमित्तपना देखें तो ज्ञान की ऐसी स्थिति जहाँ कुछ हो रही है, कुछ नहीं हो रही है, ऐसी स्थिति उसके वर्तमान में इच्छा का निमित्त बन रही है और वह इच्छा आत्मा के परिस्पन्द का निमित्त बन रही है और समग्ररूप में यह आत्मा ज्ञानरूप इच्छारूप और योग परिस्पन्दरूप परिणमा, ऐसे परिणमते हुए जीव का निमित्त पाकर शरीर की वायु का संचरण हुआ ।

व्यापादन के समय पर पदार्थों में निमित्तपना—शरीर की वायु के संचरण होने का निमित्त पाकर ये हस्तादिक अंग चले, और हस्तादिक अंग चलाने का निमित्त पाकर उस कीड़े के शरीर पर आघात पहुँचा, और कीड़े के शरीर पर आघात पहुँचने का निमित्त पाकर मर्मस्थान भिद गया और चूँकि वह द्रव्य प्राण का स्थान था तो उसके भिद जाने से चूँकि आयु के उदय का नोकर्म अब नहीं रहा तो आयु के उदय का नोकर्म मिट जाने से आयु कर्म में उदीरण हो गई । इस तरह निमित्त के बाद निमित्त, निमित्त के बाद निमित्त ऐसी लम्बी परम्परा के बाद, हुआ वह सब उसी समय में; पर निमित्तों में परम्परा लग गई । यों आयु का क्षय हुआ ।

वस्तुत्वदृष्टि से निष्कर्ष—यह स्वरूप दृष्टि से वस्तुत्व दृष्टि से कथन है । लोक व्यवहार में तो यह कहा ही जायेगा कि वाह ! देखो अमुक ने अमुक को मारा तो । पर मरण क्या चीज कहलाती है, वह मरने वाला पुरुष क्या है और किस प्रकार से ऐसी स्थिति बनी है, इसका विश्लेषण किया जाता है तो ये सब बातें कहनी होती हैं । तो इस पुरुष ने अपना परिणाम किया और उस परिणाम के कारण इसे बंध हुआ । वहाँ दूसरे जीव में क्या गुजरा । उस गुजरने के कारण बंध नहीं हुआ, पर इसने जो कुछ गुजरने का मूलभूत निमित्तभूत जो खोटा परिणाम बनाया उस अशुभ परिणाम के कारण उसे बंध हुआ ।

किसी के द्वारा पर को घात हो सकने के अभाव की दृष्टि—तो स्थिति ऐसी है कि इस आत्मा ने उसका मरण नहीं किया । मरण हुआ आयु के क्षय से और असमय में जो आयु का क्षय हुआ उसमें निमित्त हुआ मर्मस्थान का भिदना, या जो कुछ भी परिणमन हुआ, मर्मस्थान के भिदने का निमित्त हुआ उसका ही

वास्तव में संघठन हुआ, उस संघठन में निमित्त हुए दूसरे जीव के शरीर के अंगों का उस प्रकार का हलन चलन का परिणमन, और उस घातक पुरुष के शरीर का जो इस प्रकार अंगपरिणमन हुआ उसका निमित्त हुआ उसके शरीर के वायु का संचरण और वायु संचरण का निमित्त हुआ योगपरिस्पंद और योगपरिस्पंद का निमित्त हुआ इच्छा का करना। इस प्रकार की यह परम्परा बनी हुई जहाँ यह व्यवहार बन गया, बीच के निमित्त की दृष्टियों को तोड़ करके लोग यह कहने लगे कि मैंने जीव को मारा। इस प्रकार जो मरण हुआ है उसका साक्षात् निमित्त आयुकर्म का क्षय है। जब ऐसी वस्तु की स्थिति है तब यह कहना युक्त नहीं है कि मैं जीव को मारता हूँ या जीव के द्वारा मैं मारा जाता हूँ।

स्वरूप दृष्टि में निष्कर्ष—यहाँ स्वरूपदृष्टि का सम्बन्ध रखते हुए सोचना है। यों तो उन बीच के सब निमित्तों की दृष्टि ओझल करके यह व्यवहार में कहा ही जाता है कि मैंने मारा और दूसरे के द्वारा मैं मारा गया। जब मैं दूसरे जीव की आयु को हर ही नहीं सकता तो फिर मेरे द्वारा किसी का मरण ही कैसे होगा। दूसरे ऐसी बात सोचने में पर कर्तृत्व का आशय बना हुआ है। मैं पर को यों कर देता हूँ ऐसा सोचना मिथ्या है।

पर के द्वारा पर के जीवन और मरण दोनों का अभाव—भैया! चूंकि यह मारने का मरने का प्रकरण है इसलिये इस सम्बन्ध में कुछ थोड़ा सा यह कथन कर्णकटु हो जाता है कि देखो, कैसी अनहोनी बात हो रही है कि मारते हैं और कहते हैं कि मैंने नहीं मारा किन्तु जब जीव को जिलाने का प्रकरण आयेगा तब यही कहा जायेगा कि मैं दूसरे जीवों को जिलाता हूँ ऐसा भाव करना भी अज्ञान भाव है क्योंकि किसी बच्चे को प्यार भी करें, गोद में लिये रहें और वह रोगी है, मरणहार है, कितना भी बचाना चाहें पर वह बच्चा न रहे तो वहाँ यह बात जरा जल्दी समझ में आ जाती है कि मैं दूसरे जीव को जिला नहीं सकता। तो जैसे दूसरे जीव को हम जिला नहीं सकते वैसे ही किसी दूसरे जीव के प्राणों को हर भी नहीं सकते।

जीवन मरण के निर्णय में सुगमता व असुगमता—भैया! पर के जिलाने की बात हो तो यह जरा जल्दी समझ में आ जाती है और मारने का प्रकरण बताया जा रहा हो तो विलम्ब से समझ में आता है क्योंकि वहाँ ऐसा लगता है कि वाह हमने ही तो मारा। यहाँ ऐसा ही लगता है कि वाह जिला तो देता हूँ। जिलाने पर वश कम है और मारने पर वश निमित्त दृष्टि से सुगम है, इस कारण इन दोनों में भिन्नता की बात समझाते हुए पर के मारने की बात जरा कम बैठी और जिलाने की बात भिन्नता में सुगमता से बैठ जाये, यह अन्तर है। जैसे दूसरे को जिला देना हमारे वश की बात नहीं है इसी प्रकार दूसरे जीव का मार देना भी हमारे वश की बात नहीं है।

स्वरूपदृष्टि को न भूलकर निर्णय करने का संकेत—यह स्वरूपदृष्टि से कथन हैं। उस दृष्टि को भूलकर स्थूल दृष्टि रखकर बात समझी जाये तो फिर समझ में भी न आए और कोई विडम्बना भी घर कर जाये। यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि मैं दूसरे को न मारता हूँ और न दूसरे के द्वारा मैं मारा जाता हूँ। यह परिणाम अज्ञान क्यों है। उस अज्ञानता की सिद्धि में ये गाथाएँ चल रही हैं।

घात विषयक विकल्प की अज्ञानमयता का कारण—जीव का मरण आयु के क्षय से होता है, ऐसा जिनवरों ने कहा है। जब हमारी आयु किसी दूसरे पुरुष के द्वारा हरी ही नहीं जा सकती तो दूसरे जीवों के द्वारा हमारा मरण कैसे हुआ। यहाँ इस अध्यवसाय परिणाम को अज्ञान बताया जा रहा है। जहाँ अन्तर में यह श्रद्धा है कि मैं दूसरे जीवों को मार देता हूँ और दूसरे जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ, इस अध्यवसाय को अज्ञान कहा है, क्योंकि इन भावों में ज्ञानमय भावों का स्पर्श नहीं है। प्रथम तो यह सहज ज्ञायकस्वरूप आत्मा परमपारिणामिक भावमय है, इसके इस सहज स्वरूप पर दृष्टि देने से वहाँ कुछ किए जाने का प्रश्न ही नहीं होता है। यह है और स्वभावतः अगुरुलघुत्व गुण के कारण अपने आप में अर्थ परिणमन चलता रहता है, ऐसा इसका स्वभाव है।

स्वरूप के अपरिचय से हानि—स्वभावदृष्टि की जिन्हें पहिचान नहीं है और स्वभाव के अपरिचय के कारण जिसने किसी भी अन्य पर्याय में आत्मबुद्धि की है वह पुरुष इन विकल्पों को करता है और ऐसा ही सत्य मान लेता है कि मैंने किया तो दूसरे में कुछ, किन्तु यह आत्मा अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य जगह कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। होता है अन्य जगह कुछ, आत्मा के भावों के अनुकूल; किन्तु वहाँ मात्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। कोई द्रव्य अपनी परिणति से किसी दूसरे द्रव्य को परिणमा दे अथवा किसी दूसरे की परिणति कर दे ऐसा द्रव्यों का स्वरूप नहीं है।

द्रव्यों की वर्तना—प्रत्येक द्रव्य है और उसमें परिणमन शक्ति है। जिन पदार्थों में वैभाविक शक्ति है वे पदार्थ अपनी वर्तमान योग्यता के अनुसार अन्य अनुकूल निमित्त को पाकर स्वयं की परिणति से विकाररूप परिणम जाता है। दूसरे का दूसरा कुछ लगता नहीं है किन्तु ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी रंचमात्र यह भी नहीं होता कि किसी पदार्थ ने किसी दूसरे पदार्थ का स्वरूप ले लिया हो, दे दिया हो या कुछ विपरिणत कर देता हो। ऐसी स्थिति में जो उपने उपयोग का निर्णय बनाये हैं उन्हें यह भ्रम नहीं होता कि मैं दूसरे को मारता हूँ या दूसरे के द्वारा मैं मारा जाता हूँ। हाँ, जो जीव खोटे परिणाम करता है, दूसरे को मारने का अध्यवसाय बनाता है उसको बंध हो चुका, सो उसके ही अज्ञान परिणाम से वह बंध हो गया।

निमित्त-नैमित्तिकता होने पर भी वस्तुस्वातन्त्र्य—जीव ने खोटा परिणाम किया सो उसका निमित्त पाकर उसमें ऐसा ही परिस्पन्द हुआ जिसके निमित्त से शारीरिक वात (वायु) का संचरण हुआ कि वे अंग उठे और पर प्राणियों पर आघात हुआ और पर प्राणी गुजर गया। इतने पर भी स्वरूप सीमा को निरखने पर यह बात बिलकुल सुनिर्णीत हो जाती है कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का प्रभु नहीं है। जब ऐसी स्थिति में कोई मुझे घात रहा हो (व्यावहारिक भाषा में बात कही जा रही है।) उस स्थिति में भी दूसरे के द्वारा मेरा कुछ नहीं किया जा रहा है। दूसरे लोग अपने आप में अपने कषाय के अनुकूल अपनी चेष्टा कर लेते हैं। वे अपनी कषाय चेष्टा से अतिरिक्त अन्य कुछ करने में समर्थ नहीं हैं, पर यहाँ यह जीव अपने अज्ञान भाव के अनुकूल, अपने कषाय के अनुकूल अन्य पदार्थ को विषयकर सुख और दुःख का क्षोभमय परिणाम बनाया करते हैं।

अपना अपने आपमें परिणमन—मैं दूसरों के द्वारा मारा जाता हूँ, ऐसा अध्यवसाय बनाना ज्ञानी जीव के नहीं होता है क्योंकि वे जानते हैं कि मरण तो जीव का अपनी आयुकर्म के क्षय से ही होता है, आयु का क्षय न हो तो मरण कराया नहीं जा सकता। अपनी-अपनी आयुकर्म अन्य जीवों के द्वारा हरा जाये ऐसा नहीं है, प्रत्येक कर्म अपने ही भोग-उपभोग से नष्ट हुआ करता है। किसी का कर्म कोई दूसरा भोग ले यह नहीं हो सकता है। जिसने कर्म बाँधा वही भोगता है और कदाचित् भोगने से पहले कर्मों की निर्जरा कर दे यह भी उसने ही किया है। अपना कार्य खुद ही कर सकते हैं। किसी का कर्म कोई दूसरा नहीं करता। किसी एक कार्य में यदि बहुत से लोग सम्मिलित होते हैं और सम्मिलित होकर उस कार्य को निष्पत्ति करते हैं तो वहाँ भी उन सब जीवों ने अपना-अपना कार्य किया है, न कि किसी एक कार्य को मिलकर किया है। भले ही उन सबकी चेष्टाओं के निमित्त से कोई एक कार्य बन जाये पर उन्होंने स्वयं अपने आप में अपना परिणमन किया है।

कर्तृत्व के आशय में अज्ञानमयता—भैया ! कोई किसी का परिणाम बना नहीं सकता, इसलिये किसी भी प्रकार दूसरा दूसरे का मरण कर दे यह नहीं हो सकता है। तो मैं मारता हूँ या मारा जाता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय है वह निश्चित अज्ञान का अध्यवसाय है। इस प्रकरण में मारने और मारे जाने की बात कही जा रही है। आगे जिलाने और जिये जाने की बात कही जायेगी। फिर सुख-दुःख देने और न दिये जाने की बात कही जायेगी। और फिर इस प्रकार ब्रत के करने और न किये जाने की बात कही जा सकेगी। उन सब बातों में तो यह स्पष्ट होता रहेगा कि ठीक कहा जा रहा है पर मरने और मारे जाने की बात कुछ देर में बैठती है कि मैं क्या किसी को नहीं मारता हूँ, मैं क्या किसी से नहीं मारा जाता हूँ? हाँ, हाँ, पर द्रव्य का कुछ भी परिणमन किसी पर के द्वारा नहीं किया जाता।

अन्य के परिणमन में हितू की भी असमर्थता—जैसे कि हम दूसरे को न दे सकते हैं, न दूसरे के द्वारा हम सुखी किये जा सकते हैं—यह बात सुगमता से बैठ जाती है। जब मैं अधीर होऊंगा, क्षोभ में होऊंगा तो मेरे हितूजन, परिजन, मित्रजन कितना समझाते, कितना सुखी करने की चेष्टा करते हैं, पर यहाँ उनके समझाये जाने के कारण से कुछ नहीं गुजरता है। तब समझ में आता है कि हाँ कोई किसी को सुखी-दुःखी नहीं कर सकता, जिला नहीं सकता, ऐसी ही बात तो यहाँ है, ऐसा परिणाम करना कि मैं दूसरे को मारता हूँ या दूसरे के द्वारा मारा जाता हूँ यह परिणाम अज्ञानमय परिणाम है। पर ज्ञानी जीव तो चूंकि भेद विज्ञान में रत है, प्रत्येक पदार्थ को उसके स्वरूप की सीमा में देखने की प्रकृति वाला है इस कारण उसके अज्ञानमय परिणाम नहीं होता।

स्वरूप सीमा की प्रतीति की ज्ञानी में प्रकृति—जैसे कोई मलिन पुरुष दूसरे के दोष को देखने की प्रकृति वाला होता है, कोई स्वच्छ पुरुष दूसरे के गुणों के देखने की प्रकृति वाला होता है ऐसे ही मिथ्यादृष्टि पुरुष जिस किसी निमित्त से किसी उपादान में कुछ परिणमन होता है वहाँ निमित्त ने ही तो परिणमन किया है ऐसा देखने की प्रकृति वाला है—मैंने ही तो मारा, जिलाया, सुखी किया आदि रूप अपने को कर्ता के रूप

में, अधिकारी के रूप में, प्रभु के रूप में देखने की प्रकृति वाला है किन्तु ज्ञानी पुरुष सर्वत्र उन-उन पदार्थों की स्वरूप सीमा को देखने की प्रकृति वाला है। उसके व्यवहार में भी कभी लगे रहने पर भी स्वरूप सीमा की स्वतन्त्रता की प्रतीति वहाँ से नहीं हटती।

हितरुचि—जैसे किसी बड़े दुःख से दुःखी पुरुष को अपने दुःख की प्रतीति नहीं मिटती, चाहे वह बड़ा स्वादिष्ट भोजन कर रहा हो, चाहे वह किसी बड़े आराम में पहुंचाया जा रहा हो पर उसे दुःखमयता की प्रतीति रहती है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुष को चाहे वह दुकान करता हो, घर रहता हो, कहीं बैठा हो, किसी प्रकरण में उसे पदार्थ की स्वरूप सीमा की और अपने आपके सबसे अलग केवल अपने स्वरूप मात्र की प्रतीति नष्ट नहीं होती।

उपयोगी वृत्ति—ऐसा भेद विज्ञानी जीव इस आनन्दमय आत्मतत्त्व की प्रतीति के कारण तो यथायोग्य अनुकूल रहता ही है पर किसी क्षण जब वह राग-द्वेष रहित शुद्ध आत्मतत्त्व का सम्वेदन करता है उस काल में उत्पन्न हुआ जो परमानन्द है उसके आस्वादन में रत हो जाता है या ऐसी उपयोग परिस्थिति उत्पन्न होने का कारण है समता परिणाम। यह जीव योग और उपयोग स्वरूप है। तो है ज्ञानानन्दस्वरूप किन्तु इसकी जो वृत्ति होती है वह योग और उपयोग रूप से होती है। सो इस छङ्गस्थ अवस्था में योग तो परिस्पंद के रूप में फैलता है और यह उपयोग खण्ड-खण्ड ज्ञान के रूप में फैलता है। जब आत्मा की शुद्ध अवस्था होती है तब यह योग निष्क्रिय स्थिति में रहता है और यह उपयोग अर्थ परिणमन रूप से अपने आप में भी ज्ञानप्रकाश करते हुए इस द्विलमिलाहट, चकचकाहट के रूप से यह शांत, गम्भीर होता हुआ प्रवृत्त रहता है।

पर की अटक में उपयोग की दो धारा—भैया ! यह उपयोग एक प्रकार का है किन्तु जब यह अपने स्रोत को छोड़कर बाहर से अपनी धारा का प्रवाह लेता है तो बाह्य विषयों से अटक कर इसकी दो धारायें बन जाती हैं। जैसे किसी स्रोत स्थान से चली आयी हुई एक मोटी धारा किसी चीज से टकराकर दो धाराओं के रूप में बन जाती है उसी प्रकार से वह परिणाम आत्मा की बाह्य वृत्ति, बाह्य विषयों से टकराकर दो धाराओं में वह निकलता है, कुछ रागरूप और कुछ द्वेषरूप। न हो किसी बाह्य विषयों का ख्याल, न किया जाये किसी पर वस्तु का ध्यान, तो इस उपयोग में ये दो धारायें कैसे बन जायेंगी। रागरूप बन जाना और द्वेषरूप बन जाना जब राग और द्वेषरूप दो धारायें हैं। जाती हैं तो इनकी छटनी होने लगती है, कौन उसे भला है कौन उसे बुरा है।

जन्म और मरण—जीवलोक जीवन से अपने को लाभ मानता है और मरण से यह अपनी हानि मानता है। पर हे आत्मन् ! तू तो जन्म और मरण से परे है, तेरा स्वरूप तो सहज ज्ञान है ना, जिससे तेरा निर्माण होता है। निर्माण कब हुआ। अनादि से ही जैसा स्वरूपमय तू है वह तो ज्ञानस्वभाव है ना, उसका जन्म क्या और मरण क्या? उपाधिवश से यह ज्ञानात्मक चेतन पदार्थ एक विलक्षण पर्याय में परीक्षित हो जाता है। देह और जीव इन दोनों का एक बन्धन हो जाता है उसका नाम जन्म है और जब इस देह का विनाश हुआ तो उसका नाम मरण है। पर स्वरूप दृष्टि से निरखें तो न उस आत्मा का जन्म है और न मरण है। पर

मोहग्रस्त होने के कारण इसे जीवन तो हितकर मालूम होता है और मरण विनाशकारी मालूम होता है।

ज्ञानी की जन्म और मरण में समता—भैया ! जिसे अपने आत्मा के कार्य की धुन है, जो अपने आत्मा से ही नाता रखता है ऐसा पुरुष जन्म और मरण में समता परिणाम रखता है। यहाँ से गया तो क्या है। कुछ यहाँ था तो नहीं। जो परिचित लोग हैं वे साथ न रहेंगे तो न सही उससे बिगड़ा क्या? मेरी सिद्धि दूसरे जीवों के कुछ ख्याल कर लेने से कुछ विचार बना लेने से नहीं होती है, न उससे मेरा सुधार है अथवा बिगड़ है। यहाँ रहा तो क्या; कहीं रहा तो क्या। मैं अपने उस ज्ञानस्वरूप को देखते हुये रहूँ तो लाभ है, चाहे यहाँ होऊँ, चाहे किसी पर भव में होऊँ अथवा किसी भी स्थिति में होऊँ। और मैं अपने इस यथार्थ स्वरूप को देखता हुआ न रहूँगा तो क्लेश तो प्राकृतिक ही है। यहाँ होऊँ तो क्लेश है, इस कारण क्लेशों से दूर होने के लिए, कल्याणमय होने के लिए समता परिणाम होना अत्यावश्यक है।

जन्म मरण से सुधार व बिगड़ की वृद्धि का अभाव—इस भेद विज्ञानी जीव का यहाँ समता परिणाम चल रहा है। जीवन और मरण उसे एक समान नजर आते हैं। न मरण में विनाश समझ रहा है, किसका? इस सद्भूत आत्मा का, और न जीवन में लाभ समझ रहा है, किसका? इस ज्ञानस्वरूप सहज आनन्द निधान इस आत्म तत्त्व का। यों जीवन और मरण दोनों में समता परिणाम रखने वाले भेद विज्ञानी जीव को इन विकल्पों में रति नहीं होती। जहाँ अन्तर में देखा वहाँ आनन्द और ज्ञान का प्रसाद छाया हुआ है, जैसे ही उसने अपने इस स्वरूप के निवास से हटकर इन इन्द्रियों की खिड़कियों से बाहर झांकने वाला हुआ कि इसे फिर ये सब दिखने लगते हैं, ये नर हैं, ये परिजन हैं, ये विरोधी हैं, ये मित्र हैं, अमुक से अमुक को यों हो गया, नये-नये दर्शन होने लगते हैं।

अपनी शुद्धता का दर्शन—भैया ! ज्ञानी जीव का यही यत्न होता है कि बाह्य विषयक विकल्प छूटें और मुझे अपने आप में अन्तर में शुद्ध स्वरूप के दर्शन हों। चूँकि हम सर्वत्र अपने आपको ही परिणमाया करते हैं, चाहे अव्रत अवस्था में हों, चाहे व्रत अवस्था में हों, भोगों की स्थिति में हों, परोपकार की स्थिति में हों, सर्वत्र हम अपने आपको ही परिणमाया करते हैं। जब अनन्त ज्ञानात्मक परमात्मा के स्वरूप की भक्ति कर रहा हूँ तब भी उस अपने आपको ही परिणमा रहा हूँ। मैं परमात्म तत्त्व विषय अनुराग रूप से कहीं अपने स्थान को छोड़कर परमात्मा के स्थान में नहीं चला गया। कदाचित् वहीं परमात्मा हो, और वहीं मैं होऊँ एक क्षेत्र में होऊँ तो भी उस परमात्म आराधना का स्वरूप अपने स्वरूप स्थान को छोड़कर परमात्मा के स्वरूप स्थान में, प्रदेश में नहीं चला गया। वस्तु के स्वरूप की सीमा अभेद होती है। हाँ उस समय जो ध्यान का संस्थान बना वह इस ही प्रकार से बना कि उसके विषय में बाह्य वस्तु विषयभूत हुई है। सो परमात्म स्वरूप विषयभूत ही रहता है पर हम उस स्वरूप को कुछ कर दें, सुधार दें, बिगड़ दें, पूज लें ये सब नहीं कर सकते। वे सब कुछ अपने परिणमन रूप ही हो रहे हैं।

मेरे परिणमन की शैली पर भक्ति व द्रोह की निर्भरता—तो हम अपने आपको किस रूप से परिणमायें कि वास्तव में परमात्मा की यथार्थ भक्ति हो जाये? मैं अपने आपको किस रूप परिणमा लूँ कि मैं परमात्मा

का द्वोही होऊँ । यह सब अपने प्रदेशों में अपने आपके परिणामने के आधार पर निर्भर है । तब हमें यह यत्न होना चाहिए कि मैं अपने को केवल अर्थात् जैसा यह अकेला स्वयं अपने स्वरूप को रखता है उस रूप जानने का यत्न करूँ और इस यत्न के दौरान में चूंकि क्षणिक उस शुद्ध परमात्मस्वरूप पर दृष्टि पहुँचती है जो अंतरंग ओर बहिरंग में सर्वत्र पूर्ण शुद्ध है और चूंकि जो शुद्ध होता है वह अलग से नहीं होता है, जो था वह नहीं रहता है । वहाँ कुछ नवीन चीज नहीं बनायी जाती है और उपाधि और विभाव के सम्बन्ध से जो चीज दबी हुई थी, व्यक्त नहीं हो सकती थी, वह चीज अब उपाधि और विभाव के दूर होने से व्यक्त हो गई है । वह वही है जो अनादि से थी, अब वही की वही व्यक्त हो गयी है ।

ज्ञान की यथार्थता के परिचय की परीक्षा समता—इस कारण मेरा और प्रभु का स्वरूप समान है, मैं भी चेतन द्रव्य हूँ, वैसा ही स्वभाव रखता हू, वैसा ही मेरा स्वरूप है इस कारण अपने आपको केवल ज्ञानानन्द मात्र रूप से अनुभव किये जाने पर अलौकिक आनन्द जगता है और परमात्मस्वरूप की यथार्थ भक्ति बनती है । यह सब प्रताप है यथार्थ ज्ञानबल का । यथार्थ ज्ञानबल प्रकट हुआ है, इसकी पहिचान है समता । ज्ञानी पुरुष का जीवन और मरण में समान परिणाम है ।

ज्ञानी के लाभ व अलाभ से समानता—किसी पर वस्तु के लाभ और अलाभ में भी ज्ञान का समान परिणाम है । कोई पर चीज मेरे पास आ गई तो इससे ज्ञानानन्दस्वरूपी इस आत्मतत्त्व में क्या सुधार बन गया । कोई चीज मुझ से वियुक्त हो गई तो इससे ज्ञानानन्दस्वरूप मुझ आत्मा में कौन-सा बिगाड़ हो गया । यथार्थ परिज्ञान करने वाले जीव का लाभ और अलाभ में समता परिणाम रहता है ।

सुख-दुःख व शत्रु मित्र में समानता—सुख और दुःख आनन्द गुण के विकार हैं । सुख में भी क्या हित है और दुःख में भी क्या अहित है । इन्द्रियों को जो असुहावना लगे उसे दुःख कहते हैं । इन दोनों में ही तो क्षोभ बसा हुआ है, शत्रु और मित्र में मेरा कहाँ सुधार और बिगाड़ है । और किसी परमात्मा पर शत्रुपने की दृष्टि बनाया तो यही दृष्टि तेरी शत्रु है, तुझे शत्रु की बरबादी करना है ना, तो किसी को शत्रु मानने की जो अपवित्र दृष्टि है उस दृष्टि की बरबादी कर । कहाँ शत्रु है? इसी तरह कहीं मित्र भी नहीं है । शत्रु और मित्र में समान परिणाम होता है ज्ञानी पुरुष का । इसी प्रकार निन्दा और प्रशंसा, इन दोनों में समान परिणाम होता है ज्ञानी पुरुष का ।

ज्ञानी की दृढ़ शुद्ध दृष्टि—वह आत्मास्वरूप का रुचिया ज्ञानी पुरुष अपने आपकी दृष्टि में इतना मजबूत है कि वह अपने आत्मस्वरूप का आश्रय छोड़ना नहीं चाहता । ऐसे दृढ़ समरसी ज्ञानी पुरुष के अथवसाय नहीं होता । जीवों का मरण उनकी ही आयु के उपभोग से जो आयु का क्षय होता है उसके निमित्त से होता है, तुम दूसरे का न मरण करते हो और न तुम्हारे द्वारा दूसरे का मरण होता है । तुम तो एकमात्र अपने भावों को किया करते हो, सो पराश्रयी भावों का परित्याग कर और स्वाश्रित भावों का आदर करो । स्वाश्रित भावों का आदर करने से तेरे बंधन समाप्त होंगे, संकट समाप्त होंगे ।

इस प्रकार जीवघात के सम्बन्ध में आशय बनाने वाली बात का निरूपण करके अब जिलाने और दूसरे

के द्वारा जिए जाने के अध्यवसायरूप परिणामों की बात कहेंगे । इस सम्बन्ध में जिज्ञासु ने यह प्रश्न किया कि मरण का अध्यवसाय करें तो यह अज्ञानरूप है और जीने का अध्यवसाय करें तो यह तो मरने से उल्टी बात है ना । मरने विषयक अध्यवसाय अज्ञान है तो इससे उल्टा जो जीने विषयक अध्यवसाय है वह तो अज्ञान न होगा? तो उत्तर में कहते हैं कि जीने वाले के अध्यवसाय के सम्बन्ध में तो बात क्या करते हो, उसका समझना तो बड़ा सुगम है । मैं दूसरे को नहीं जिलाता हूँ और न दूसरे के द्वारा मैं जिलाया जाता है, इसी के सम्बन्ध में अब गाथा आ रही है ।

गाथा २५०

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।

सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

मैं दूसरे जीवों को जिलाता हूँ व मैं दूसरे जीवों के द्वारा जिलाया हुआ रहता हूँ, इस प्रकार का जो परिणाम है वह निश्चय से अज्ञानरूप है । यह परिणाम जिसके होता है वह मूढ़ है, अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, किन्तु ज्ञानी जीव तो इन परिणामों से विपरीत है ।

जन्म—भैया ! जन्म कहते हैं उत्पन्न होने को । कोई पदार्थ न हो और नया उत्पन्न हो ऐसा नहीं होता । जो कुछ है वह सब अनादि से है । वर्तमान का परिणमन जरूर भिन्न-भिन्न है । यह परिणमन पहले से न था और आगे भी न रहेगा, किन्तु जिस पदार्थ का परिणमन होता है वह पदार्थ तो अनादि से ही है । उसका जन्म परमार्थ से नहीं होता और जो जन्म होता भी है वह जन्म किसी दूसरे की परिणति से नहीं होता । जन्म में किसी एक पदार्थ की अवस्था का स्वरूप नहीं है । आत्मा का आहार वर्गणाओं को ग्रहण करना, नवीन भव में आहार वर्गणाओं का आना, उन्हें अङ्गीकार करना, फिर उनकी वृद्धि होना ये सब जन्म और जीवन कहलाते हैं ।

विचित्र बन्धन—कितनी विचित्र बन्धन की बात है जो वैज्ञानिकों की भी समझ से परे है । कोई चाहे कि ऐसा जीव बना लूँ, शरीर बना लूँ शरीर की बात तो दूर जाने दो, शरीर का जो मल है, खून, मल मूत्र है, पसीना है जो कुछ भी है वही कोई बना ले तो वैज्ञानिकों की बुद्धि से परे है । ऐसा यह चैतन्यस्वरूप आत्मा कैसा तो फंसा हुआ है और कैसा शरीर वर्गणाओं का प्रसार चलता है, कैसा फैल गया है, कैसा बन्धन में है इसकी अवस्था बड़ी विचित्र हो रही है, इसमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध न होता तो पदार्थ में ऐसी बात बन कैसे जाती । किन्तु निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी वस्तु के स्वरूपस्तित्व की दृष्टि न छोड़कर देखना चाहिये कि ऐसे अवसर में भी उपादान उस निमित्त की सत्रिधि होने पर अपनी परिणति से अपने को विकार रूप बनाता है । निमित्तभूत द्रव्य का गुण पर्याय कुछ भी तत्व उससे हटकर उपादान में नहीं आये । पर ऐसा विलक्षण सम्बन्ध है कि उसको किन शब्दों में प्रकट किया जाये । निमित्त की सत्रिधि बिना विकार

होता नहीं और निमित्तभूत द्रव्य का गुण पर्याय असर कुछ भी कहो, वह कुछ भी निमित्त से निकलकर उपादान में आता नहीं। इन दोनों बातों का यथार्थ निर्णय रखना यह प्रमाणभूत ज्ञानी की कला है।

अपनी आयु के उदय के साथ जन्म का अन्वय व्यतिरेक—ऐसा विचित्र बंधन है जीव का, कर्म का व देह का, फिर भी यह सब परिणमन निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बन्ध पूर्वक समस्त उपादानों में सर्व द्रव्यों में अपनी-अपनी परिणामिति से चल रहा है। मैं एक भव छोड़कर दूसरे भव में आया हूँ तो किसी जीव के द्वारा मैं जीवित नहीं होता हूँ। यह जीवन तो अपनी आयु के उदय से होता है। आयु का उदय प्रति समय निरन्तर चलता रहता है। जब तक निर्वाण नहीं होता तब तक आयु एक क्षण को भी विश्राम नहीं लेती। कोई विशिष्ट आयु का उदय न रहा तो नवीन आयु का उदय होगा। जैसे कोई देव है, वह मरकर मनुष्य बनता है तो ऐसा नहीं है कि देव भव नष्ट हो जाये और उसके एक समय बाद या कुछ समय बाद फिर मनुष्य आयु का उदय हो किन्तु वहाँ तो यों उदय ही देखो, लो इस क्षण देव आयु का उदय हुआ तो लो अगले क्षण मनुष्य आयु का उदय हो गया। उन दोनों आयुओं की संधि के बीच में कोई समय खाली नहीं रहता कि जिस समय किसी आयु का उदय न हो यह हुई उदय की दृष्टि से देखने की बात।

जन्म और मरण का समय—अब मरण और जन्म की बात देखो। कोई देव ८ बजकर २० मिनट पर देवभव छोड़े और ८ बजकर २० मिनट पर पहले समय में मनुष्य बने तो यह बतलाओ कि जीव मरा कब? ८ बजकर २० मिनट पर मरा कहलाया या ८ बजकर २० मिनट पर पहले समय में मरा कहलाया? जिस क्षण में सर्वप्रथम मनुष्य आयु का उदय है उस क्षण में उस देव आयु का विनाश कहलाया। नवीन आयु मिली और पुरानी आयु न रही, इन दोनों का समय एक है : जैसी समस्त पदार्थों की उत्पत्ति और व्यय के संबन्ध में हम यों देखते हैं कि उत्पाद और व्यय का एक समय है।

उत्पादव्यय की एक समयता पर दृष्टान्त—अंगुली सीधी है और वह टेढ़ी हुई तो यह बतलावो कि टेढ़ापन पहिले हुआ या सीधापन पहिले मिटा? टेढ़ी होने और सीधापन मिटने इन दोनों का समय एक ही है क्योंकि अंगुली के टेढ़ी बनने का ही नाम अंगुली के सीधेपन का मिटना है और अंगुली के सीधेपन के मिटने का ही नाम अंगुली का टेढ़ी होना है। हाँ सीधी पर्याय के अनन्तर ही टेढ़ी पर्याय हुई पर उसके बीच में कोई समय खाली नहीं रहा। इसी प्रकार देव आयु का उदय ८ बजकर २० मिनट तक चला और ८ बजकर २० मिनट के बाद पहिले ही समय में मनुष्य आयु का उदय चला, तो ८ बजकर २० मिनट में उस देव का मरण नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय देव आयु का उदय है। आयु के उदयकाल को मरण नहीं कहा जाता, आयु के न होने का नाम मरण है। सो देव आयु का न होना मनुष्य आयु के प्रथम होने के समय में है। यह जीव पूर्व भव को छोड़कर नवीन भव में आता है इसी का नाम जीवन कहा जाता है।

दूसरे के द्वारा दूसरे का जीवन किया जाना अशक्य—परमार्थतः जीव का जन्म नहीं है और व्यवहार में जन्म है सो इस जन्म का भी कारण आयु का उदय है। उसके उस आयु का उदय न हो क्षय हो रहा हो तो किसी हितू में क्या यह सामर्थ्य है कि उसे जिन्दा रख सके, मरने से बचा सके? किसी में ऐसी सामर्थ्य नहीं

है। बड़े-बड़े महापुरुष हो गये-राम, लक्ष्मण, कौरव, पांडव। कैसी-कैसी घटनायें उस समय हुईं पर कोई किसी को बचा सका क्या? श्री कृष्णजी की जब मृत्यु हुईं तब बलदेव जी ही क्या कर सके। कितना बड़ा प्रताप था श्री कृष्ण का और बलदेव का पर क्या कोई उन्हें बचा सका? लक्ष्मण को शक्ति लगी, बेहोश हो गये, मृतक तुल्य हो गये पर राम विलाप ही तो कर सके कुछ वहाँ हुनर भी न चला सके? कोई मान लो अपना हुनर ही करले तो भी निमित्त नैमित्तिक भाव ही तो है, पर किसी को कोई जिलाता हो ऐसी परिणति कोई नहीं कर सकता। जो ऐसा मानते हैं कि मैं दूसरे को जिलाता हूँ, दूसरे को दुखी-सुखी करता हूँ, यह उनकी कर्तृत्व बुद्धि है।

आयु के उदय बिना जीवन की अशक्यता—भैया! दया का परिणाम जुदी बात है। सब जीव सुखी हों, इस दया के परिणाम से ज्ञान भाव का विरोध नहीं है, पर मैं इन जीवों को जिलाता हूँ, पालता हूँ, ऐसे कर्तव्य का आशय है तो वह जीव अज्ञानी है। जब महापुरुष, महाराजा लोग गुजरते हैं तो कतना तो वैभव, कितना उनका ऐश्वर्य, कितनी उनकी कला, सब ही व्यर्थ जाते हैं। क्या वे यह न चाहते थे कि मैं अभी जीवित रह। सिकन्दर की बात सुनते हैं कि जब वह गुजरने लगा तो बहुत यत्न किया गया कि यह न गुजरे, वैद्यों का ताँता लगा रहा और जिसका इतना बड़ा प्रताप, इतना बड़ा ऐश्वर्य उसके समय में, वह कायर बनकर सोचता है कि हाय! अब वश नहीं चलता। तब वह कहता है कि देखो मरना तो पड़ेगा ही, मर ही रहे हैं पर अर्थी को ले जाना तो अर्थी पर से मेरे दोनों हाथ बाहर निकले हुए ले जाना, जिससे दुनियाँ यह देखे कि आया और चला गया, हाथ में कुछ नहीं ले जा सका, खाली हाथ जा रहा है।

आत्म सावधानी बिना दुर्लभ जीवन की विफलता—भैया! ऐसा हो भी सकता है। अगर किसी मुर्दा के हाथ बाहर निकाल कर अर्थी को ले जावे तो लोगों के चित्त में यह बात आ जाती है कि रीते हाथ जा रहा है, साथ कुछ भी नहीं लिए जा रहा है। इस जीव के साथ जो कलुषता लगी हुई है उस कलुषता से यह अपना जीवन खो देता है, पछतावा हुआ करता है। ऐसी जगी हुई बुद्धि यदि जीवन काल में ही हो, जवानी में ही हो तो यह कितना अपना प्रताप बड़ा सकता है, पर यह। सावधानी न जग पाना तो संसार है और यही कुयोनियों में भटकने की बात है।

बन्धन विपदा में कैसा अहंकार?—भैया! पुण्य के उदय में कुछ सद्बुद्धि पायी, धन पाया, ऐश्वर्य पाया, इनमें अहंकार करने से तो दुर्गति ही होगी। इस जीव के कितने तो बन्धन है, कितनी तो कलुषता है, इतना भी तो यह कर नहीं पाता कि अपने आपके अन्तर में विराजमान परमात्मतत्त्व जो एक भ्रम को झीनी चादर से ढका हुआ है, इसको तो निरख ले। नहीं निरख सकता और बना रखा है बड़ा तमाशा। अपने आपको न जाने क्या-क्या मान रखा है, इन सब मायावी पुरुषों में रहकर, खुद मायावी रहकर, मैं दूसरे का कुछ कर देता हूँ इस प्रकार का जो आशय किया करता है वह मूढ़ता भरा हुआ आशय है।

वस्तु स्वातन्त्र्य दृष्टि बिना मोहविनाश असम्भव—होता तो है पदार्थों में विकार, पर निमित्त पाकर होता

है। होता है ऐसा जान लो फिर भी प्रत्येक वस्तु का स्वरूप जान लो ऐसा नहीं है कि किसी निमित्तभूत पर द्रव्य में से कोई गुण, पर्याय, प्रभुता कुछ भी आकर उपादान में आता हो स्वतंत्र, स्वतंत्र पड़े हुए हैं दोनों पदार्थ। विपरीतता तो उपादान की कला से हुई है। निमित्त भूत पदार्थ अपने आपमें परिणमती हुई सत्रिधि में उपस्थित है। निमित्त ने अपनी परिणति से हटकर, उठकर कुछ चीज उपादान में नहीं रख दी, जब तक वस्तु के परिपूर्ण स्वतंत्र स्वरूप की दृष्टि नहीं जगती तब तक मोह नहीं मिटता कुछ तो करामात है एक में दूसरे में कुछ कर देने को। ऐसी बुद्धि जगने पर मोह के मिटने का प्रसंग नहीं आता।

उपादान की कला—होता है विकार निमित्त पाकर, खूबी है उस उपादान में ऐसी। जिस पुरुष को क्रोध करने का उपादान है, क्रोध करने की योग्यता अभी चल रही है तो किसी को भी नौकर रख ले, कुछ समय बाद उसे वही क्रोध आने लगता है क्योंकि खुद में तो क्रोध की बात बसी हुई है ना, उपादान है सो कोई भी नौकर आये, रहे तो वह उसको निमित्त करके वह क्रोध उबलने लगेगा वहाँ पर क्या नौकर ने क्रोध पैदा कर दिया? नहीं वह तो अपने कषाय और अपने परिणामों के अनुकूल अपना परिणमन कर रहा है। चूँकि वह क्रोध करने के उपादान वाला है इसलिए कुछ न कुछ बात सोचकर कुछ अर्थ लगाकर अपने आपमें अपने को कुछ कर लेता है।

निमित्त का उपादान में प्रवेश का अभाव—जैसे किसी पुरुष ने चोरी की हो और वह १०, ५ पुरुषों के बीच बैठा हो, बहुत पूछा जा रहा है अजी यह चोरी किसने की? कोई नहीं बता रहा है, पर है इनमें से कोई ऐसा वह जान रहा है, तब कहता है कि अच्छा मत बतलावो हम अभी ऐसा मंत्र चलायेंगे क अप आप ह जिस चोरी की होगी उसकी चोटी खड़ी हो जायेगी वह झूठमूठ का मंत्र पढ़ने लगा। सो जो चोर था धीरे से हाथ उठाकर अपनी चोटी देखने की कोशिश करता है। अब बतलाओ क्या किया उस झूठमूठ का मंत्र पढ़ने वाले ने! उसकी चोटी नहीं पकड़, उसको वश नहीं किया, उसकी तरफ देखता भी न था क्योंकि उसे संदेह ही न था कि उसने चोरी की होगी। उसे तो पता ही नहीं है कि किसने चोरी की। वह तो जिज्ञासा से अपना परिणमन बना रहा है। पर जिसने चोरी की, जिसके उपादान में शं का बसी हुई है, जिसके उपादान को वह स्वयं जान रहा है वह ऐसी बात सुनकर अपने आप में अपना अर्थ लगाकर अपनी चेष्टा करता है। यद्यपि उसकी चेष्टा इसके वचनों का निमित्त पाकर हुई, निमित्त की सत्रिधि बिना नहीं हुई, किन्तु इस निमित्तभूत ने उसमें जाकर कुछ किया हो, यह बात नहीं है। उस पुरुष ने मंत्र वाले की बात सुनकर अपने में परिणमन बनाकर अपनी चोटी को पकड़ लिया।

कर्तव्य स्वदृष्टि—सो भैया! निमित्त तो पर वस्तु है पर विकार रूप परिणम जाता है यह परिणमने वाले की परिणति की कला है। निमित्तभूत पदार्थ अपने क्षेत्र से चलकर उपादान में कुछ डालता हो ऐसा नहीं है। ऐसी स्वरूप की स्वतन्त्रता की सावधानी न दृष्टि में रहे तो मोह नहीं छूटता। ऐसी सावधानी बनाना अत्यन्त आवश्यक है। विकारों में पर पदार्थ निमित्त होते हैं, उसका सात्रिधि पाकर यह उपादान विकार करता है। इतने पर भी दोनों का चतुष्टय न्यारा-न्यारा है। दोनों अपने-अपने चतुष्टय में रहते हैं। किसी का

चतुष्टय या कुछ अंश किसी दूसरे में प्रवेश नहीं करता, ऐसे भेद स्वरूप सीमा की रुचि करना यह तो कल्याण का उपाय है ।

वस्तु स्वातन्त्र्य की दृष्टि नया मोड़—किन्तु पर की चर्चा ही बनाये रहने से भला नहीं है । जब से होश सम्भाला है, जब से जानकारी बनायी है तब से यह समझ रहे हैं कि जितने भी विकार परिणमन होते हैं, वे पर निमित्त पाकर होते हैं पर क्या हमारा कर्तव्य यही है कि इतनी सी बात में ही उपयोग रखे रहे और वस्तु का जो स्वतन्त्र स्वरूप है, स्वरूप चतुष्टय है उसके स्वातन्त्र्य को देखने का जी न करें, रुचि न करें । यह तो कल्याण का मार्ग नहीं है ! मान लो एक घण्टा तक निमित्त ही निमित्त की खूब चर्चा कर लिया, समर्थन कर लिया, पर करने योग्य दृष्टि क्या है और किस दृष्टि से हमें शान्ति मिल सकती है, हम निराकुल किस दृष्टि से रह सकते हैं, ऐसी दृष्टि तो वही वस्तु स्वातन्त्र्य की दृष्टि है ।

ज्ञातव्य और कर्तव्य—कुछ आज का वातावरण ऐसा हो गया है कि वस्तु स्वातन्त्र्य को वस्तु स्वातन्त्र्य की एक शुद्ध सीमा का उल्लंघन करके मान लो विकार को स्वभावोदभव बोलने लगे हैं तो उसके एवज में दूसरों को यह तो नहीं करना चाहिये कि वस्तु स्वातन्त्र्य को भूलकर केवल निमित्त का ही प्रतिपादन करने में लग जायें । क्या कल्याण पा लिया? किसे बताना है, किसे सुनाना है । हो गई चर्चा, कह दिया कुछ, इससे ही तो संसार नहीं मिट गया । ऐसा अन्धकार तो नहीं है कि वस्तु के स्वभाव से स्वरसतः विकार भाव होते रहते हैं । ऐसा अज्ञान तो नहीं है ना, निर्णय तो हो गया ना कि विकार परिणमन जो होते हैं वे पर निमित्त को पाकर होते हैं । अब एक बार निर्णय होने के बाद उसकी ही चर्चा रखना श्रेयस्कर नहीं है । ज्ञान हो गया । अब करने का काम तो आत्मस्वभाव का आश्रय है ।

आत्मज्ञान का उपदेश—आचार्यों ने इस बात पर जोर दिया है कि तुम आत्मस्वरूप दृष्टि बनाओ यह जोर नहीं दिया है कि विकार पर उपाधि का निमित्त पाकर होते हैं, सो उन निमित्तों की दृष्टि ही बनाए रहो । यह जोर कोई भी ऋषि नहीं देते हैं । हो गया ज्ञान एक बार । चित्त अपना कल्याण के लिए बनाना चाहिये । एक बार जिसको ऐसा निर्णय है, हो गया, अब बार-बार उसको कहना, सुनना, चर्चा में लगना ये कोशिश बुद्धि को यत्र-तत्र भ्रमण ही करायेगी, पर शांति और निराकुलता के पद को न पहुंचायेगी । इसलिये कर्तव्य यह है कि जान तो ले पर दृष्टि स्व की रखें । अपना जो सहज स्वरूप है उसका ज्ञान हो तो वह ज्ञान अधिक देर तक टिका रहे, बना रहे ऐसा यत्न करो । यह है अपने कल्याण का उपाय ।

स्वरूप दर्शन का लक्ष्य—ये जितने भी जन्म जीवों के हो रहे हैं ये उनके बंधे हुये कर्मों के उदय से हो रहे हैं । यद्यपि उस जीवन का निमित्त है आयु का उदय और आयु का उदय चलते रहने का नो कर्म है, शरीर के मर्मस्थान आदिक यथावस्थित बने रहना और शरीर के द्रव्यप्राण यथावस्थित बन सकें, इसके सम्भावित निमित्त हैं खाना पीना, सेवा ठहल इत्यादि । इतने पर भी सेवा ठहल करने वाले पुरुष दूसरे आत्मा को जिलाते रहते हैं ऐसा सोचना अज्ञान है । होता रहता है, निमित्त इसका यह है, ऐसा समझ लो । पर

वस्तु स्वातन्त्र्य भी तो कुछ चीज है। स्वरूप चतुष्टय भी तो कुछ तत्त्व है, या कुछ नहीं है? है, तो उस स्वरूप की दृष्टि की प्रधानता रखो। उसका उससे ही सब कुछ बनता है। उसे तो केवल जान लो।

निमित्त वर्णन का प्रयोजन स्वभाव रक्षा—कहीं यह भ्रम न हो जाये कि जीव को जब राग करना होता है तो राग करता है, द्वेष करना होता है तो द्वेष करता है। उसका ऐसा स्वभाव नहीं है इस ज्ञान को कराने के लिये निमित्त के ज्ञान की आवश्यकता है फिर जब मोक्ष मार्ग में अपने कदम परमार्थ ढंग से बढ़ते हैं तो कर्तव्य होता है कि वह अपने आपको जैसा सहज स्वरूप रूप है उस रूप में निरखने का यत्न करें। ऐसा यत्न करने से यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थिरता पाने का अभ्यास पाता है।

कर्तृत्व के आशय में अहंकार व कायरता—मैं दूसरे को जिलाता हूँ या दूसरे के द्वारा जिलाया जाता हूँ ये दोनों परिणाम अज्ञान रूप है। उसमें एक में तो अहंकार बसा है और एक में कायरता बसी है। मुझे दूसरे लोग जिलाते हैं, मैं दूसरों के द्वारा जिन्दा रहता हूँ, ऐसा सोचने में कायरता आती और मैं दूसरों को जिलाता हूँ ऐसा सोचने में अहंकार आता है। तो अहंकार और कायरता ये दोनों ही परिणाम क्षोभ को उत्पन्न कराने वाले हैं, क्लेश उत्पन्न कराते हैं। सारभूत बात तो यह है कि यह मैं आत्मा अपने आपके सहज स्वरूप को निरखूँ कि मैं ज्ञान प्रकाशमात्र हूँ। यह बात ज्ञान और चारित्र द्वारा साध्य है, या सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र द्वारा साध्य है? चीज जान लो। उस जाने हुए को किस तरह से जानने रूप बनाये रहना इसमें आचरण और चारित्र की आवश्यकता है।

अन्तरङ्ग आचरण ज्ञातृत्व की स्थिरता—अंतरंग आचरण के बिना यों ही मन को स्वच्छन्द बनाने में, विकल्पों में यत्र-तत्र दौड़ाने में चाहें कि ऐसे स्वरूप ज्ञान की स्थिरता रख सकें, सो यह किया जाना बड़ा कठिन है। विकल्प छोड़ना होगा एकता न होकर एकाग्र दृष्टि से एक ही सहज ज्ञान स्वरूप पर दृष्टि रखने का यत्न करना होगा। होगा कोई ऐसा समय जिस समय में किसी भी पर का ध्यान न रहे और यह ज्ञान ज्योति ज्ञानानन्दमय ज्ञान प्रकाश केवल साधारण रूप, सामान्य रूप यह ज्ञान प्रकाश ही इसके ज्ञान में आये, अनुभव में आए ऐसा समय प्राप्त हो सकता है और जिन आत्माओं को ऐसे क्षण प्राप्त हुए, जिन्होंने अपने आपको इस रूप से अनुभूत किया उन पुरुषों को धन्य हैं। वे मोक्षमार्गी हैं।

सहज स्वरूप दर्शन की पावनता—घर में रहते हुए भी ऐसे ज्ञान वाले पुरुष जो अपने अन्तर में उन्मुख होकर सामान्य ज्ञान प्रकाश मात्र अपने आपकी प्रतीति बना सकें, सबसे विविक्त न्यारा केवल सहज स्वरूप मात्र अपने आपको जान सकें और ऐसे उन्मुख हो सकें वे पुरुष भावी काल में कर्मों का क्षय करके अपने स्वाधीन शाश्वत आनन्द को प्राप्त करते हैं। जो इस विविक्तता की मूर्ति हैं वे साधु तो परमेष्ठी हैं ही। तो इस बंधाधिकार में उन्हीं अध्यवसायों का वर्णन चल रहा है जिन्हें इन जीवों को न करना चाहिए और जिन अध्यवसायों की कलुषता से मुक्त होकर अपने सहज स्वरूप का दर्शन करना चाहिए। बंध के कारण भूत इस अज्ञानमय जीवनाध्यवसाय को भी छोड़कर निज सहज शुद्धात्मत्व की भावना में उपयोग लगाना।

मैं दूसरों को जिलाता हूँ या मुझे दूसरे लोग जिलाते हैं ऐसा मानना ज्ञान है, ऐसा सुनकर जिज्ञासु पूछता है कि ऐसा अध्यवसाय करना अज्ञान क्यों है? उसके उत्तर में श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं-

गाथा २५१

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भण्टि सब्बण्हू ।

आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसि ॥२५१॥

गाथा २५२

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भण्टि सब्बण्हू ।

आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥

जीव आयु के उदय से जन्म लेता है। अपनी-अपनी आयु कर्म का उदय जन्म का और जीवन का कारण है क्योंकि यदि आयु का उदय न हो तो जीवन कराया नहीं जा सकता, ऐसा सर्वज्ञ देव बतलाते हैं, और आयु को तुम दे सकते नहीं हो फिर तुमने दूसरे प्राणी का जीवन कैसे बनाया, अर्थात् नहीं बनाया।

जीवन के अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कारण—जीवन आयु के उदय के निमित्त से होता है और बाह्य में अन्य द्रव्य प्राणों के होने से होता है। उन द्रव्य प्राणों में सबसे प्रधान आयु को बताया है। चौदहवें गुणस्थान में जहाँ कि अन्तर्मुर्हृत का जीवन है वहाँ केवल आयु प्राण रहता है और दूसरा कोई प्राण नहीं रहता है आयु के उदय के बिना जीवन होता ही नहीं है भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न जीवों के विभिन्न रूप से प्राण होते हैं।

एकेन्द्रिय जीव के प्राण—जो एक इन्द्रिय जीव है, जो अपर्याप्त अवस्था में है, विग्रह गति में है ऐसे जीवों के तीन प्राण होते हैं। आयु प्राण, स्पर्शन इन्द्रिय प्राण और कायबल, वह एकेन्द्रिय जीव जब अपर्याप्त अवस्था में आता है तो उसके चार प्राण होते हैं स्पर्शन इन्द्रिय प्राण, कायबल, आयु और स्वासोश्वास। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के भी स्वासोश्वास होता है। इनमें से अपने-अपने योग्य हवा का निकलना, हवा का जाना ये सब रहते हैं।

दो इन्द्रिय जीव के प्राण—दो इन्द्रिय जीव जो विग्रह गति में है व अपर्याप्त अवस्था में है उसके चार प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय-स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, आयु और कायबल। ये चार प्राण होते हैं जब वह अपर्याप्त अवस्था में है। जब वह पर्याप्त अवस्था में आता तो ६ प्राण हो जाते हैं, एक वचन बल, एक स्वासोश्वास दो चीजें और हो जाती हैं उदय देखो जीव का कैसा विचित्र है कि किसी पद में, किसी अवस्था में, कैसी रचनायें होती रहती हैं।

तीन इन्द्रिय जीव के प्राण—तीन इन्द्रिय जीव जब विग्रह गति में और अपर्याप्त अवस्था में है तब उसके तीन तो इन्द्रिय प्राण, एक कायबल और एक आयु ये ५ प्राण होते हैं, जब वह पर्याप्त अवस्था में

पहुंचता है तो दो प्राण और बढ़ जाते हैं—वचन बल और स्वासोश्वास । इस तरह ७ प्राण हो जाते हैं ।

चार इन्द्रिय जीव के प्राण—चार इन्द्रिय जीव उसकी अपर्याप्त अवस्था में चार तो इन्द्रिय प्राण एक काय बन और एक आयु इस तरह ६ प्राण होते हैं । और उस जीव की जब पर्याप्त अवस्था हो जाये तो उसमें दो प्राण और बढ़ जाते हैं वचन बल ओर स्वासोश्वास इस तरह ८ प्राण हो जाते हैं ।

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के प्राण—असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव जिसके मन तो नहीं हैं किन्तु इन्द्रिय पांचों हैं । उसकी विग्रह गति में अपर्याप्त अवस्था में ५ तो इन्द्रिय, एक कायबल और आयु ऐसे ७ प्राण होते हैं । जब यह पर्याप्त अवस्था में हो जाता तो वे ही दो प्राण और बढ़ जाते हैं—वचन बल और श्वासोश्वास । तब ह प्राण हो जाते हैं ।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के प्राण—संज्ञी जीव के अपर्याप्त अवस्था में तो ७ प्राण होते हैं, ५ इन्द्रिय, एक कायबल और एक आयु, किन्तु पर्याप्त हो जाने पर उसमें १० प्राण हो जाते हैं मनोबल वचन बल और स्वासोश्वास ये तीन और बढ़ जाते हैं ।

जीवनाध्यवसाय के अज्ञानरूपता का कारण—इस तरह ये जीव द्रव्य प्राणों से जी रहे हैं । उन प्राणों में देखो सबके साथ आयु प्राण बराबर लगा है । आयु प्राण के बिना यह जीव संसार अवस्था में कभी नहीं रहता । जहाँ केवल ज्ञान हो जाता है और योग भी नष्ट हो जाता है किन्तु निर्वाण नहीं होता ऐसे चौदहवें गुणस्थान में आयु प्राण रहता है । आयु के उदय बिना किसी का जीवन नहीं है? तो जब आयु उदय के बिना हम किसी को जीवित नहीं कर सकते तो मैंने अमुक को जिलाया इस प्रकार का अध्यवसाय क्यों करते हो । वह अध्यवसाय तो नियम से अज्ञान रूप है ।

आयु के उदय बिना जीवन की अशक्यता—कोई कितना ही भाव करे कि यह जिन्दा रहे, कितनी ही प्रीति हो, पर कोई किसी को जिला नहीं सकता दूसरे को जिलाने की बात तो दूर रही खुद भी कौन मरना चाहता है । जब व्याधि उपाधि कठिन हो जाती है तो खुद को भी हम जिन्दा नहीं रख सकते तो यह जो जीवन है वह आयु के उदय से होता है । हम दूसरे जीवों को आयु दे नहीं सकते । इस कारण यह अध्यवसाय मिथ्या है जो यह भाव भरे हैं कि मैं दूसरे जीवों को जलाता है । कोई किसी को न जिलाता है न कुछ देता है न सुखी करता है । सूझने के अपने अपने उदय हैं । उन उदयों के अनुसार उनको अपने आप परिस्थिति प्राप्त होती है ।

ज्ञानी का मूल प्रयोजन—मैया ! ज्ञानी जीव का समस्त उपदेशों के ग्रहण करने में यह तात्पर्य रहता है कि मैं सर्व विकल्पों से छूटकर आत्मा के सहज-स्वरूप चित्प्रकाशमात्र आत्मतत्त्व को ही लखूँ । ज्ञानी जीव इस प्रयोजन को लखकर समस्त उपदेशों को ग्रहण करते हैं । जिसको जिस चीज की लगन होती है वह समस्त प्रसंगों में से अपनी लगन के लायक ही बात को देखता है । केवल एक ही उद्देश्य है अपने अधिकार स्वभाव की दृष्टि होना और ऐसी दृष्टि की स्थिरता बनी रहना, ज्ञानी के समस्त कार्य समस्त वर्णन उपदेश इस प्रयोजन को लिये हुए होते हैं ।

संयमाचरण में ज्ञानी का प्रयोजन—अब समस्त वर्णनों का व आचरणों का प्रयोजन लीजिये । यह जीव संयमरूप आचरण करता है तो किस लिये कि चूंकि विश्व के समस्त पदार्थों के संचय में और उनके भोगने में विकल्प करता है, मूर्छा चलती है । वहाँ यह अपने स्वभाव में स्थित होने का पात्र नहीं हो पाता है । इसलिये स्वभाव दर्शन के बाधक जो विकल्प हैं उन विकल्पों के जो आश्रयभूत हैं नो कर्म हैं उनका त्याग किया जाता है ।

कार्य में उद्देश्य की साधकतमता—यदि उद्देश्य का पता न हो तो बाह्य पदार्थों का त्याग करके भी इस आत्मा को मोक्ष मार्ग नहीं मिल पाता बाह्य चीजों पर ही दृष्टि है । यह है, इसको त्यागते हैं इसके त्यागने से सुख मिलेगा, मोक्ष मिलेगा । मोक्ष भी क्या चीज है? और मैं भी क्या चीज है इसका निर्णय किए बिना जो कुछ भी कल्पना में आया हो । क्या कल्पना में आयेगा कि जैसे यहाँ के संसार के सुख हैं इससे कई गुण होकर सुख मिलता है? इस संसार के सुख को छोड़कर सुख की बहुलतारूप क्रियात्मक जानता है । उससे शान्ति नहीं मिलती । यदि केवल्य पर ज्ञानानन्द के पूर्ण विकासरूप मोक्ष पर दृष्टि हो तो परम विश्राम मिल पाता है, आनन्द मिल पाता है । अन्यथा अपना परमार्थ स्वरूप विदित नहीं होता । जिस किसी भी सुख को अज्ञानी ने श्रद्धान माना उसको ही यह दृष्टि में रखता है ।

ज्ञानी के प्रयोजन की पदानुरूप सिद्धि—ज्ञानी को जितना भी करने का सुनने का, प्रतिपादन करने का, उपदेश ग्रहण करने का प्रयोजन है । वह इतना ही है कि विकल्पों से छूटकर मैं इस निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप अनुभव में रहा करूँ । यह बात होती भी अन्त में है, जब मुक्ति प्राप्त होती है वहाँ बहुत रूप में यह बात नहीं चलती, जितने रूप में वह मेल मिले उतने रूप में हम इस आत्मा के अनुभव में लगते हैं ।

परम शुद्ध निश्चय के प्रयोग में ज्ञानी के प्रयोजन की सिद्धि—भैया! कोई वर्णन सुनो उस वर्णन में चार नय मिलेंगे परमशुद्ध निश्चय नय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय । इन चारों नयों का जो विषय है वर्णन है उन वर्णनों में यह ज्ञानी जीव अपने अखण्ड सहन स्वभाव की दृष्टि का प्रयोजन लेता है । परम शुद्ध निश्चयनय तो इस अखण्ड सहज स्वभाव का सीधा ही दर्शन कराने का प्रयत्न करता है । इसका विषय ही अखण्ड निर्विकल्प स्वभाव है । उसमें तो प्रयोजन साक्षात् ही स्पष्ट है ।

शुद्ध निश्चयनय के प्रयोग में ज्ञानी के प्रयोजन की सिद्धि—जब शुद्ध निश्चयनय से ऐसा जाना जाता है कि यह प्रभु अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख से सम्पन्न है । इसका केवलज्ञान, जैसा ज्ञान स्वभाव है वैसा ही प्रकट हुआ । इसके प्रयोग में वह अपने प्रयोजन की सिद्धि को शैली अपनाता है । भगवान के यह अनन्त चतुष्टय स्वभाव से विकसित होता है । यह अनन्त ज्ञान क्या है? जो ज्ञान गुण है ना, उसका शुद्ध परिणमन है । यह ज्ञान गुण की वृत्ति जगी रहती है । केवल दर्शन—यह दर्शन गुण की वृत्ति है । इसका उद्भव दर्शन गुण से है, शांत है, निराकुल है प्रभु, अनन्त सुख सम्पन्न है, निष्कषाय है, निर्मल है, स्वच्छ है, ऐसा जो उनका परिणमन है यह चारित्र गुण से उद्भूत है । इस तरह शुद्ध निश्चयनय से जितने भी शुद्ध परिणमन सिद्धों में हुये हैं उन शुद्ध परिणमनों में प्रयोजन की शैली ज्ञानी अपना रहा है । यह परिणमन इन

गुणों से प्रकट होता है और ये गुण इस आत्मा के सहज गुण हैं, अथवा यह आत्मस्वरूप जो एक अखण्ड है वह इन गुणों रूप से इन विशेषताओं के रूप से जाना जा रहा है। परमार्थ से इन समस्त गुणों का अभेद रूप यह आत्मतत्त्व है, यहाँ से प्रकट होता है कि ज्ञानी ने इसके प्रयोजन की शैली अपनायी है और उन शुद्ध परिणमनों को निरखकर यह अपने स्वभाव की ओर आया है। देखो शुद्ध निश्चयनय के प्रयोग से भी इस ज्ञानी पुरुष ने आत्मदर्शन रूप प्रयोजन को सिद्ध किया है।

अशुद्ध निश्चयनय के प्रयोग में ज्ञानी के प्रयोजन की सिद्धि की पद्धति—यह ज्ञानी जब अशुद्ध निश्चयनय का प्रयोग करता है तब की प्रयोजन पद्धति देखिये। अशुद्ध निश्चय का प्रयोग इस प्रकार होता है। यह जीव रागी है। जो अशुद्ध परिणमन है इस परिणमन से परिणमते हुए उस एक पदार्थ को निरखना यह अशुद्ध निश्चयनय का विषय है, क्योंकि निश्चय कहते हैं एक को देखने को, किसी भी निश्चयनय में दो पदार्थों की दृष्टि नहीं होती। एक को निरखना यही निश्चयनय का असाधारण अनिवार्य लक्षण है। इसमें दो राय नहीं है। एक को ही देखें, किन्तु उस एक को अशुद्ध परिणति से परिणमता हुआ निरखें तो वह अशुद्ध निश्चयनय कहलाता है। ज्ञानी जीव अशुद्ध निश्चयनय के प्रयोग में भी सहज स्वभाव के स्पर्श रूप प्रयोजन को सिद्ध करता है। वह कैसे? इस नय का जब विस्तार बनाये तो इस बात को न भूलें कि एक को ही निरखना है। जब एक को ही निरखें तो निश्चयनय बनता है। दो निरखने में व्यवहारनय आता है। जिसका वर्णन अब इसके बाद किया जायेगा।

प्रयोजक शैली—अभी यहाँ यह देखिये कि ज्ञानी जीव अशुद्ध निश्चयनय के प्रयोग में कैसी शैली अपनाता है कि जिसके प्रताप से यह विकल्प द्वैतों से छूटकर अद्वैत सहज स्वभाव में प्रवेश कर चलता है। इस नय के मत में जीव रागी है, क्रोधी, मानी, मायावी हो रहा है। देखो यहाँ निमित्तभूत पदार्थ की दृष्टि छोड़कर एक वर्तमान पर्याय परिणत आत्मा को निरखा जा रहा है इस अशुद्ध निश्चयनय में क्रोध हुआ है, क्रोध आत्मा के चारित्र गुण का विकार है। यह चारित्र गुण की परिणति से परिणमता हुआ जो कुछ भी ज्ञान है, यह ज्ञान आत्मा के अज्ञान गुण का परिणमन है, अल्प हुआ है, यह इसके अपूर्ण अवस्था की बात है, कषाय कुछ भी हुई, वह चारित्र गुण का परिणमन है, श्रद्धा कुछ हो, मिथ्यात्व रूप ही सही-वह श्रद्धा गुण का परिणमन है। इस तरह अशुद्ध परिणमनों में यह निर्णय ज्ञानी रख रहा है कि ये समस्त परिणमन उन गुणों की वृत्ति है। इस अशुद्ध निश्चयनय के विषय को सुनते समय में यह जानने की भी इच्छा न करना कि यह हो क्यों गया? वह व्यवहारनय में बताया जायेगा। जिस आँख से निरख रहे हैं उस आँख से दिखता क्या है। इस शैली से इसके अभी देखना है। जब तक इसको अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देख रहे हैं तब तक तो तुम अशुद्ध परिणमनों को उनके आधार में देखो कि सब परिणमन इन गुणों के परिणमन से हो रहा है।

प्रयोजक पद्धति में प्रयोजन की सिद्धि—तो ऐसी शैली से निरखने पर उपादान मुख्य हो जाता है और परिणमन गौण होने लगता है—ऐसी स्थिति आने पर अन्तः प्रलीन पर्याय की दशा होती है अर्थात् पर्याय द्रव्य के अन्तर में प्रलीन हो गई, अर्थात् इस ज्ञानी पुरुष ने अपने उपयोग हे पदार्थों को यों निरखते-निरखते ऐसा

उपयोग बनाया है कि अब पर्याय दिखने की जगह ध्रुव गुण दिखता है और फिर इस स्थिति से और अन्तर में पहुँचने पर अशुद्ध निश्चयनय का उपयोग छूट जाता है और परमशुद्ध निश्चयनय के उपयोग में आता है, तब साक्षात् अखण्ड निर्विकल्प स्वभाव का परिचय कर लेता है। यह प्रकरण यों बताया जा रहा है कि ज्ञानी जोव को समस्त उपदेश ग्रहण, समस्त प्रतिपादन, समस्त श्रवण, आचरण, व्यवहार चारित्र सभी बातें एक प्रयोजन को लिये हुये होती हैं, जिसे कहते हैं ज्ञानी का मुख्य प्रयोजन।

सभी के प्रयोजन का भाव—भैया ! मुख्य प्रयोजन बिना कोई पुरुष नहीं रह रहा है। कोई गृहस्थ धर्मात्मा है तो उसका मुख्य प्रयोजन है धर्म साधना धन संचय उसका प्रयोजन नहीं हुं किसी पुरुष की धर्म में रुचि नहीं है और लौकिक ठाठ बाटों को देखकर बड़प्पन महसूस करता है। उसका प्रयोजन है धन संचय करना। कोई न कोई प्रयोजन प्रत्येक पुरुष रखता है। इस ज्ञानी का प्रयोजन क्या है कि विकल्पों से छूटकर अखण्ड निर्विकल्प निज स्वभाव में स्थिर रहूँ, तृप्त रहूँ, लीन रहूँ, यह प्रयोजन रहता है। चाहे उसे इस प्रयोजन में सफलता न मिली हो फिर भी इसका ही यत्न वह करता है। तो इस परमशुद्ध निश्चयनय के वर्णन से भी यही प्रयोजन साधा और शुद्ध निश्चयनय के वर्णन से भी यही प्रयोजन साधा और अशुद्ध निश्चयनय के वर्णन से भी यही प्रयोजन साधा;

व्यवहारनय के प्रयोग से प्रयोजन पर पहुँचने की पद्धति—अब व्यवहारनय का प्रयोग देखो। व्यवहारनय के प्रयोग में यह देखा जाता है कि जीव में रागादिक विकार कर्मों के उदय के निमित्त से होते हैं। कर्मों के उदय के निमित्त बिना विकार नहीं होते हैं, यह बात सत्य है। तब उसका प्रयोग किसके लिये करना है उसका प्रयोजन यह है कि चूंकि यह विभाव मेरे स्वभाव से प्रकट नहीं हुआ, मेरे सहज सत्त्व के कारण यह विभाव नहीं बना है, परिणमन नहीं बना है। औपाधिक कर्म विपाक के निमित्त से आत्मभूमि में ऐसी झलक हुई, इस प्रकार गुणों इ का विकृत परिणमन हुआ है। वह मेरी चोज नहीं है। मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो यह अखण्ड चैतन्य स्वभाव है। व्यवहार प्रयोग का प्रयोजन, पर वस्तुओं का निमित्त जानने का प्रयोजन, निमित्त और नैमित्तिक दोनों से रुचि हटाकर अनादि अनन्त शुद्ध सुरक्षित निज स्वभाव में दृष्टि को पहुँचाना है। पूर्व नयों की भाँति इस व्यवहारनय को परिज्ञान का प्रयोजन यही आत्मदर्शन रूप सिद्धि करना है।

समस्त वर्णनों में आचरणों में मूल प्रयोजन—यों ज्ञानीजीव का प्रयोजन सब वर्णनों में यही है कि मैं अपने निर्विकल्प शुद्ध सहज स्वभाव जो कि आनन्दस्वरूप है उसमें मग्न होऊँ। यह ज्ञानी जैसे इस वर्णन के प्रयोजन से अपनी समृद्धि की सिद्धि करता है इसी प्रकार ब्रत, संयम, चारित्र, आचरण सत्संग, स्वाध्याय आदि जो-जो भी यह व्यवहारधर्म करता है, शुभ क्रियाएँ करता है, शुभोपयोग बनाता है उन सबका भी प्रयोजन विकल्प भाव से हटकर निर्विकल्प स्वरूप में पहुँचने का है।

बाह्य संयम का त्याग का प्रयोजन—विश्व के समस्त पदार्थों का सम्बन्ध इस आत्मा के अध्यवसाय और विकल्पों की उत्पत्ति करने का आश्रय है, इन्हें छोड़ दें तो विकल्पों के उदय होने का अवसर न रहेगा।

ऐसे अवसर में विकल्प भावों से छूटकर अखण्ड ज्ञानानन्दमय इस स्वभाव के दर्शन में लगूंगा । इस प्रयोजन के लिये ही उसने बाह्य परिग्रहों का प्रमाण किया, त्याग किया । जो कुछ यह व्रत संयम करता है वह सच ऐसी स्थिति बनाए रहने के प्रयोजन से करता है जिस स्थिति में उस आत्मस्वभाव से विरुद्ध और विमुख न हो जाऊँ, इसके दर्शन की मेरे में पात्रता बनी रहे । इसके लिये ये समस्त आचरण करता है । सत्संग में बैठता है, जाता है, वहाँ भी उसका प्रयोजन अपने इस ही स्वभाव के अनुभव का बना रहता है । सुनूँ ऐसी बात जो आत्मा के इस निर्विकल्प स्वभाव की प्रसिद्धि करे । करूँ ऐसा आचरण, यत्न, ध्यान जिससे मैं अपने इस सहज स्वभाव में प्रवेश कर सकूँ । ज्ञानी के समस्त व्रत नियम, क्रियायें सबका प्रयोजन एक निज स्वभाव का दर्शन और इसका उपयोगी बना रहना है ।

जीवनायध्वसाय की अज्ञानमयता—तो इस प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि तू इन विकल्पों को छोड़, इस आशय को दूर कर कि मैं दूसरे जीवों को जिलाता हूँ उसका यथार्थस्वरूप बताया है कि क्यों यह अध्यवसाय अज्ञान है । इन विकल्पों से हटकर तू अपने शुद्धस्वरूप में आ, इसके लिए इस बंधाधिकार में उन सब भावों को, अध्यवसायों को जैसा कि वह अज्ञान स्वरूप है दिखाया गया है ।

अज्ञानी को परमार्थ सत्य दर्शन का अभाव—जिसको वस्तु के चतुष्टय का परिज्ञान नहीं है वह पुरुष वस्तु के बाह्य परिकर को देखकर इस प्रकार की बुद्धि बनाता है कि मैं अमुक-अमुक को करता हूँ । पर ज्ञानी जीव विकृत परिणमन में निमित्तनैमित्तिक भाव होता हुआ भी अपनेअपने स्वरूप चतुष्टय की स्वतन्त्रता को निरखता है । अज्ञानता की दृष्टि में पड़ा हुआ अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मैंने दूसरे को जिलाया है । अपने आपके स्वरूपास्तित्व को तो वह अज्ञानी भूल गया और यह मान्यता आ गयी कि मैं दूसरे को पालता दूँ, जिलाता हूँ । ऐसे वह व्यवहार में मानता जी है, दूसरों के गुण गाता भी है; पर वह परमार्थ सत्य को नहीं निरख सकता ।

पर के द्वारा अन्य में परिणमन का अभाव—प्रथम तो यह बात है कि प्रत्येक पदार्थ अपने परमात्मस्वरूप में अविचल सुरक्षित बने हुये हैं, और उनमें द्रव्यत्व गुण होने के कारण परिणमन भी होता है । तो उनका अपने आपके ही गुणों में परिणमन होता है । कोई दूसरा पदार्थ अपने द्रव्य गुण पर्याय को दूसरे में रख देता हो ऐसी बात नहीं है । मैं दूसरों के द्वारा जिलाया नहीं जाता हूँ, किन्तु आयु का उदय चल रहा है और उस आयु के उदय के नोकर्म हैं, साधन हैं, वे मिले हुये हैं तो यह जीवन चल रहा है । यहाँ कोई दूसरा मेरे में कुछ परिणमन नहीं करता ।

कायरता का अध्यवसाय—जो अपने को दूसरे के द्वारा जीवित हूँ, पालित हूँ, ऐसा समझता है वह कायरता का भाव लिये हुये हैं । अमुक प्रसन्न रहेगा तो मेरी सत्ता रहेगी अन्यथा न रहेगी । नाना कल्पनाएँ बनाता है, और ऐसी विपरीत कल्पनाओं में कल्पनाएँ बढ़ा-बढ़ाकर ऐसा कुछ रूप रख लेता है कि अपने ही अस्तित्व की वह खबर नहीं रख पाता । तो मैं दूसरों के द्वारा जिलाया जाता हूँ, ऐसा सोचना, यह अध्यवसाय भी निश्चय से अज्ञान है । आयु का क्षय हो रहा हो और कोई हितु मुझे बचा ले ऐसा नहीं हो

सकता है।

पुराण पुरुषों द्वारा ज्ञान की शरण—बड़े-बड़े पुरुषों, ऊँचे पुण्यशाली, चक्री नारायण प्रति—नारायण बलभद्र जैसे ऊँचे पुरुष भी अपने कुटम्बीजनों को मरते देखकर कुछ अपनी कला नहीं खेल सके। अन्त में उन्हें भी ज्ञान की ही शरण लेनी पड़ी। ज्ञान की शरण लेने से ही निर्भयता आयी। जो ज्ञान की शरण नहीं लेता और देह के वियोग को ही अपना नाश समझता है उसे भय, शत्र्य, चिंता आदि सभी आपत्तियाँ सताती हैं। मैं दूसरों के द्वारा जीवित नहीं होता। यदि मैं जिन्दा करता है, दूसरे को, ऐसा मानें तो अज्ञान है। मुझे दूसरे लोग जीवित बनाए रहते हैं ऐसा मानें तो अज्ञान है क्योंकि जीवन होता है आयु के उदय से, और आयु के उदय को, किसी के उदय को कोई दूसरा दे नहीं सकता।

दुःख सुख देने को अध्यवसाय की अज्ञानरूपता—अब जिज्ञासु प्रश्न करता है कि खैर यह तो बहुत बड़ी बात है जिन्दा कर देने की। कोई किसी को जिन्दा नहीं करता, पर यह तो देखा जाता है कि दूसरों को दुःखी सुखी तो कर देते हैं। कोई किसी के ऊपर आपत्ति डाल दे तो वह तो दुःखी होता रहता है ऐसा देखा जाता है। सो कोई किसी को दुःखी तो किया करता है और सुखी भी कोई किसी को कर देता है यह भी देखा जाता है। कोई भूखा बैठा है भोजन करा दिया अथवा प्रेम की दो बातें कर दो। तो एक दूसरे को दुःखी, सुखी करता है कि नहीं? उसके उत्तर में कुन्दकुन्दाचार्य देव यह बतलाते हैं कि दुःखी और सुखी करने का जो अध्यवसाय बनाता है उसकी भी ऐसी ही गति है अर्थात् वह भी अज्ञानी है।

गाथा २५३

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःक्षिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।

सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

जो जीव ऐसा मानते हैं कि मैं अपने आप दूसरों को दुःखी सुखी किया करता हूँ वे जीव मोही हैं, अज्ञानी हैं। ज्ञानी जीवों की तो यह धारणा है कि प्रत्येक जीव अपने परिणामों से सुखी और दुःखी होता है।

वस्तुगत स्वरूप—भैया! वास्तविक स्वरूप जानने के लिए अर्थात् वस्तुगत तत्त्व जानने के लिये संयोग दृष्टि या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धी दृष्टि दृढ़ नहीं की जाती है। यद्यपि कोई भी विकार किसी पर उपाधि के सन्त्रिधान बिना नहीं होता, इतने पर भी परिणमने वाली वस्तु केवल अपनी परिणति से ही परिणमती है। कोई भी वस्तु निमित्त भूत अन्य पदार्थों की परिणति से अपने को जोड़कर नहीं परिणमा करती है। लोक में देखा जाता है कि लोग दूसरे के सुख का और दुःख का उपाय बताते हैं, पर उस दुःख का उपाय करते हुये में भी कुछ नियम तो ऐसा नहीं है कि सुख का उपाय बताया जाये दूसरे को, तो वह सुखी ही हो और दुःख का उपाय बताया जाये तो वह दुःखी ही हो, यह कोई नियम नहीं है ये बाह्य जितने भी उपाय हैं, निमित्त नहीं कहलाते हैं, ये आश्रय—भूत कहलाते हैं।

निमित्त और आश्रय—निमित्त और आश्रयभूत में अन्तर है। जीव के विकार परिणमन का निमित्त कर्म है न कि धन, वैभव, अन्य जीव आदि। ये कोई निमित्त नहीं हैं जीव के विभाव होने में, किन्तु जीव के विभाव होने में निमित्त भूत जो कर्म है उस कर्म के ये सब नो कर्म हैं। इसे आश्रयभूत कहते हैं। आश्रय-भूत पदार्थों में नियम नहीं है कि वह किसी प्रकार का कोई विकार पर में करने का निमित्त हो। तभी तो ज्ञानी पुरुष है वह किसी एक चीज़ को देखकर ज्ञानमय भाव बनाता है, और अज्ञानी पुरुष है वह अज्ञान भाव बनाता है।

भाव के आश्रय का (विषय का) एक दृष्टान्त—जैसे एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि कोई नगर में वेश्या गुजर गयी, लोग उसे जलाने के लिए जा रहे थे उसे देखकर कामी पुरुष के यह भाव हुआ कि यह न गुजरती भी तो इससे और भोगते, पर ज्ञानी का यह भाव हुआ कि ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर भी इसने व्यर्थ खो दिया। इस नर जन्म से वह अपने कल्याण का कार्य निकाल सकती थी। तो कुत्ते स्याल वगैरह मांस खाने के लिए यह कल्पना करते हैं कि ये जला रहे हैं, इसे यों ही छोड़ देते तो कई दिनों का भोजन था। चीज एक है, पर भाव अनेक प्रकार क्यों हुए? इसका अर्थ यह है कि वह बाह्य वस्तु किसी के भाव का निमित्त नहीं है किन्तु विषय भूत है, आश्रय भूत है। निमित्तभूत कर्म का नोकर्म है। जिस ज्ञानी पुरुष के उस समय में जो भाव होते हैं उस ज्ञानी के उस प्रकाश का कर्म का निमित्त है, और अज्ञानी के जो भाव होता है उसके दूसरी प्रकार की प्रकृति निमित्त है। जिस प्रकार की वहाँ प्रकृति है उसके उदय में उस प्रकार का परिणाम हुआ। वहाँ तो अन्वयव्यतिरेक है, पर इन बाह्य पदार्थों के साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं है।

व्यामोह में कर्तृत्व का आशय—तो भैया! इन आश्रयभूत चीजों में यह जीव की दुःख-सुख करने वाली मान्यता है। जो यों देखता है कि मैं अन्य प्राणियों को दुःखी करता हूँ अथवा सुखी करता हूँ वह मूढ़ है, मोही है, पर्यायमुग्ध है। उसे अपने चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व की खबर नहीं है। दृश्यमान जो कुछ भी शरीर आदिक हैं इनको ही वह अपना सब कुछ समझ रहा है, और न उसे स्वतन्त्रता की खबर है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपना द्रव्यत्व गुण लिये हुये हैं। उस द्रव्यत्व गुण का कार्य क्या है कि वह निरन्तर-निरन्तर परिणमता रहे। प्रत्येक पदार्थ अनादि से सदाकाल तक के लिये अपने द्रव्यत्व गुण के कारण निरन्तर परिणमता रहा है, परिणमता रहेगा। कोई किसी की शक्ति लेकर नहीं परिणमता। पर ऐसी खूबी है कि वैभाविक शक्ति वाला जीव और पुद्गल इन दो पदार्थों की योग्यता विकाररूप परिणमन की है, सो जिस निमित्त का सानिध्य पाता है उस अनुरूप अपने में अपना विकार परिणमन बना लेता है।

निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी परिणमन की स्वतन्त्रता—भैया! यह बात नहीं है कि अशुद्ध उपादान में केवल अगले समय होने वाली एक पर्याय की ही योग्यता है, उसमें अनेक योग्यतायें पड़ी हैं और वे योग्यतायें इस सम्भावना से जानी जा सकती हैं कि इस प्रकार का निमित्त मिलने पर यों बन सकता है, यों बनता हैं—यों बनेगा। यों इस सम्भावना से जाना जाता है। जैसे कुम्हार ने चाक पर घड़ा बनाया, बना रहा है, मधे हुए मिट्टी के लोंदे में चूँकि वह घड़ा बन जायेगा इसलिये क्या केवल उसमें घड़ा बनने की ही

योग्यता है। सम्भावना करो कि यदि वह घड़ा बनाने जैसा विकल्प न करके घड़ा बनाने जैसा हाथ का इतना बड़ा श्रम न करके एक सकोरा बनाने का विकल्प करता होता और सकोरा बनाने के अनुरूप ही अपने हाथ की संकुचित क्रिया करता होता तो क्या सकोरा बनना अशक्य था? बन जाता। उपादान में अनेक पर्याय होने की योग्यता है। जैसा निमित्त पाया उस रूप परिणम। इतने पर भी निमित्तभूत किन्हीं भी पदार्थों की परिणति से नहीं परिणम। अर्थात् किसी भी निमित्त भूत पदार्थ ने इस उपादान को नहीं परिणमाया किन्तु उन निमित्तों के सन्त्रिधान में यह मिट्टी अपने ही परिणमन से अपने में विस्तार बनाकर परिणम गई।

सुख दुःख दाता कोई न आन—भैया! समस्त पदार्थों की स्वतन्त्र स्वरूपास्तित्व में व्यवस्था है। ऐसी स्थिति में कि मैं दूसरों को दुःखी कर देता हूँ सुखी कर देता हूँ या कोई दूसरा मुझे सुखी दुःखी करता है, यह भाव अज्ञान है। एक पिता या मां अपने बच्चे के प्रति वर्षों से यह भावना रखती आयी है कि यह बेटा मुझे सुखी रखेगा, बुढ़ापे में सुख देगा, पर बेटा बड़ा हुआ, उसका मन स्वच्छन्द हुआ, वह माता पिता को कुछ भी नहीं गिनता, परवाह नहीं करता, प्रत्युत उनके सुख के साधनों से बिल्कुल उपेक्षा रखता है। तो कोई किसी से आशा लगाये कि यह मुझे आगामी काल में सुखी करेगा, यह उसका सोचना मिथ्या है। क्या पता है कि वह आगामी काल में किस प्रकार के अपने परिणाम बनाये। इसका नियम है या विश्वास है क्या कुछ?

किसी भी जीव में शत्रुत्व व मित्रत्व के प्रतिबन्ध का अभाव—आज जिसे आप अपना परम मित्र समझते हैं वह मित्र है तब तक जब तक कि उसका कुछ स्वार्थ सिद्ध होने में आपसे सहायता मिलती है। जिसे आप परम मित्र समझते हैं कि यह कभी भी मेरे मन के खिलाफ हो ही नहीं सकता आप किसी दिन उसकी इच्छा के खिलाफ कुछ कार्य तो कर दीजिये, उसकी स्वार्थ साधनों में कुछ विधात तो आपके निमित्त से आने दीजिये, फिर भी क्या वह आप से स्नेह कर सकेगा? नहीं कर सकता। किसी जीव में यह टीका नहीं लगा है कि यह मेरा मित्र ही है, यह मेरा शत्रु ही है। आज जो शत्रु है, आपका भला बर्ताव देखकर उसका चित्त इस प्रकार परिणत हो जाये कि वह आपकी भलाई सोचने में दत्तचित्त होने लगे।

निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी निमित्त के लक्ष्य में हित का अभाव—यहां न कोई किसी को दुःखी करने वाला है और न सुखी करने वाला है, सभा जीव अपने आपमें विषय और कषाय की भावना बनाए हुये हैं। अपनी-अपनी भावना के अनुरूप वे अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं। कोई पदार्थ किसी पदार्थ को न परिणमाता है, न उसमें कुछ अपने गुण देता है, निमित्त नैमित्तिक व्यवस्था अवश्य है जो कि मेटी नहीं जा सकती, चाहे वह अदल बदलकर किसी भी प्रकार हो रही है, पर कल्याणार्थी जनों को दृष्टि कहाँ देना चाहिए? अपने जीवन का लक्ष्य क्या बनाना चाहिए? यदि पर लक्ष्य ही बनाया और पर चर्या ही रही तो उससे आत्मा में ज्ञान ज्योति का अनुभव ता नहीं जग सकता। उस अनुभव के जगने के लिए तो समस्त बाह्य पदार्थों का विस्मरण करना होगा और केवल एक आत्म तत्त्व ही अपनी दृष्टि में रखना होगा।

शुभ अशुभ शुद्ध कार्य—मैं पर को दुःखी सुखी करता हूँ ऐसा बहिरात्मा पुरुष ही सोचते हैं। मैं केवल

अपने परिणामों को ही कर सकता हूँ। अपने को दुःखी करने का परिणाम किया तो वहाँ इस परिणाम मात्र से मेरा बुरा हो गया, कर्मबंध हो गया, और मैं दूसरों को सुखी होने की भावना रखे हूँ, जगत के सब जीव सुखी हों, इन जीवों का सुख तो स्वभाव ही है, ये अपने सुख स्वभाव पर दृष्टि तो दे इस भाव को शुभ कार्य कहा है। शुभ अशुभ भाव से रहित हो, ज्ञाता मात्र रहने को शुद्ध कार्य कहा है।

सत् की शाश्वत परिपूर्णता—केवल दृष्टि के मोड़ कर देने मात्र का कार्य करना है। ऐया! मैं स्वयं परिपूर्ण हूँ, आनन्द स्वभावी है, अधूरा नहीं हूँ। इसमें कुछ बनाए जाने को नहीं पड़ा है। यह पूर्ण सत्र है। पूरा का ही पूरा यह विकार परिणमन करके विकृत अवस्था को रख रहा है। उसमें भी यह पूरा है, केवल एक रंग बदला हुआ है, और जब अपने आपकी उन्मुखता करेगा तब भी वही पूरा है। यह मैं सत् अधूरा नहीं है कि मैं आधा तो सत्त्व रख पाया है और अभी आधा सत्त्व रखने की जरूरत है। यह पूरा का पूरा दृष्टि की विपरीतता में विकार रूप परिणम रहा है और यही पूरा का पूरा अन्तर दृष्टि में स्वभाव रूप परिणम रहा है।

भेद विज्ञान का प्रताप—ज्ञानी जीव जानता है कि मैं मात्र अपने परिणामों को ही कर सकता है। चूंकि वह भेद विज्ञान में स्थित है ना, इसलिए इस भेद विज्ञान के प्रताप से बाह्य निमित्तों की दृष्टि न करके अपने आपकी और प्रज्ञा करता है और अपने स्वरूप की अनुभूति की ओर चलता है तब उसके परम उपेक्षा संयम होता है। संयम दो प्रकार के होते हैं उपेक्षा संयम और परिहृत संयम बचा-बचाकर प्रवृत्ति करके व्यवहार अहिंसामय बनाना, जीव दया करना, ये सब अपहृत संयम हैं, और जहाँ जीव राशि हो, पाप विकार बनाने का साधन बनते हों उनसे हटे हुए रहना यह उपेक्षा संयम है, और वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानकर किसी में राग न करना द्वेष न करना, ज्ञाता मात्र रहना, यह है परम उपेक्षा संयम। भेद विज्ञान के प्रताप से ज्ञाता के उपेक्षा संयम प्रकट होता है।

कृतकृत्यता—सिद्ध भगवान को कृतकृत्य कहते हैं, प्रभु अरहंत को कृतकृत्य कहते हैं—और कृतकृत्यता की बात सम्यदृष्टि के भी दृष्टि में प्रकट होती है। कृतकृत्य कहते हैं जो प्रभु है, केवल ज्ञानी है। कृतकृत्यता का अर्थ यह है कि कर लिया है करने योग्य काम जिसने। सो करने योग्य काम तो पर वस्तु को पर जानकर उनसे उपेक्षा करके अपने आपमें अपनी उपलब्धि करना, यही करने योग्य काम था सो उन्होंने कर लिया। अब उनको करने को कुछ नहीं रहा।

कृतकृत्यता का मूल भाव—अब दूसरी दृष्टि लीजिये काम किया जा चुकना तब कहलाता है जब करने को कुछ न रहे। इस लोक व्यवहार में भी किसी ने मकान बनवाया। मकान बन चुका। मकान बन चुकने के बाद जो एक संतोष की सांस लेकर विश्राम मानते हैं वह विश्राम अन्तर में देखो मकान बनने के कारण नहीं हुआ, किन्तु आज यह भाव आ पाया कि अब मेरे करने को कुछ काम नहीं पड़ा है, इस भाव का उसे विश्राम मिला है, तो कुछ काम करने को नहीं रहा, ऐसी स्थिति का नाम कृतकृत्यता है।

सम्यग् दृष्टि की वस्तु विषयक दृष्टि—सम्यदृष्टि जीव तो समस्त वस्तुओं को उन-उनके ही स्वरूप में

देखता है। प्रत्येक सत् अपने ही गुण पर्याय में तन्मय है। मेरी परिणामन किया जो कुछ होगी मेरे ही प्रदेश में मेरे ही गुणों के परिणामन से होगी। अन्य कोई पदार्थों के गुणों के परिणामन से या परिणामति से न होगी। निमित्त नैमित्तिक भाव है, उसे एक बार जान लिया, बार-बार अपने उपयोग में लेने से उपयोग के यत्र-तत्र विचरने का अवसर बढ़ता है। इस प्रकरण में जहाँ वस्तु की स्वतंत्रता देखी जा रही वहाँ मात्र यह देखिए कि प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य गुण पर्याय से तन्मय है। किसी के स्वरूप का किसी दूसरे के स्वरूप से सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक अपनी परिणामति से परिणामता है। वहाँ कोई दूसरे को परिणामता नहीं है। किसी के प्रदेश में प्रवेश भी कोई दूसरा नहीं कर सकता। जहाँ एक क्षेत्रावगाह बन्धन हो ऐसी स्थिति में भी एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का स्वरूप नहीं रखता।

सम्यग्दृष्टि की कृतकृत्यता—वस्तु स्वातन्त्र्य के निरखे जाने से ज्ञानी जीव का निर्णीत हुआ परिणाम यही है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का करता कुछ नहीं है ऐसी दृष्टि सम्यक्त्व में जग जाने पर यह ही भाव आया कि मेरे लिए पर पदार्थों में करने को कुछ नहीं है। कर ही नहीं सकता। केवल अपना परिणाम किया, भाव बनाया। उस भाव बनाने की सीमा में ही रहकर उसने अपने को सुखी किया, दुःखी किया। यहाँ तक उसकी किया चली। पर वस्तु में उसकी कुछ किया नहीं चली। यों दृष्टि रखने वाले ज्ञानी पुरुष के भी कृतकृत्यता आ गई। करने को कुछ रहा नहीं।

कृतकृत्यता के उपयोग में निरापदता—ज्ञानी जीव पर वस्तु में कुछ करना नहीं मानता है कि मैंने किया है, या पर पदार्थों में कुछ करने के लिए अट का है। ऐसी उसकी दृष्टि की निर्मलता में बात चल रही है इसीलिए सम्यग्दृष्टि भी कृतकृत्य है। रागभाव रहने तक ज्ञानी की कृतकृत्यता को पूर्ण तो नहीं कहना चाहिये, पूर्ण कृतकृत्यता तो प्रभु के ही है, मगर कृतकृत्यता की दृष्टि इस ज्ञानी के जगी है। जब यह कृतकृत्यता इसकी दृष्टि में आती है तो सारे संकट, सारे उपसर्ग इसके शांत हो जाते हैं। बड़े-बड़े योगीजन बड़े उपद्रवों में, फंसावों में भी अपने ज्ञान की उपासना करने में कुछ क्षण अविचल रह जाते हैं। यह प्रताप है इस निज ज्ञान स्वभाव की दृष्टि का। जैसा यह परिपूर्ण सत् है, विविक्त है, इतना मात्र निरखने का ऐसा बड़ा प्रसाद है कि किसी भी प्रकार के संकट और उपद्रव हों, इस स्वानुभव के काल में वे सब ध्वस्त हो जाते हैं।

अज्ञान दृष्टि का परिणाम—यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि मैं दूसरे जीवों को दुःखी करता हूँ या सुखी करता हूँ ऐसे कर्तव्य का जो अध्यवसाय है वह अज्ञान है। ज्ञानी जीव के यह अज्ञान परिणाम नहीं होता। इसी प्रकार मैं दूसरे जीवों के द्वारा दुःखी किया जाता हूँ या सुखी किया जाता हूँ, यह अध्यवसाय भी अज्ञान ही है। एक तो स्वयं दुःखी है यह जीव अपनी कल्पनाओं के कारण और फिर किसी दूसरे पदार्थ पर जो कि आश्रय भूत है उसमें यह दृष्टि लगाये कि अमुक भैया ने मुझे दुःखी कर डाला है इसलिये हमारा दुःख बढ़ गया है, सो दुखी तो वह था ही, एक भ्रम और बढ़ा लेने से दुःख उसका और बढ़ गया।

दृष्टि और सृष्टि—भैया ! क्लेश के प्रसंग में यह सोचे कि मैं ऐसा ही अपना ज्ञान बना रहा हूँ, विकल्प रूप परिणाम रहा हूँ, जिसके कारण ये क्लेश बन रहे हैं ऐसी भावना जगे तो यह अपने आप पर जल्दी काबू

पा लेगा, पर जब पर की दृष्टि जग गयी तो भ्रम और फैल गया। इस विकल्प विस्तार में अब वह बहुत कुछ विवश हो गया। मैं दूसरे के द्वारा दुःखी, सुखी किया जाता हूँ, यह अध्यवसाय भी निश्चित अज्ञान है। जिससे यह अध्यवसाय है वह अज्ञानी होने से मिथ्या दृष्टि हैं और जिसके यह अध्यवसाय नहीं होता है वह ज्ञानी होने से सम्बद्धित है।

मैं जीव को सुखी दुःखी करता हूँ अथवा मैं किसी अन्य के द्वारा सुखी दुखी होता है ऐसा परिणाम करना अज्ञान क्यों है? ऐसा प्रश्न होने पर निम्नलिखित तीन गाथाओं में उत्तर दिया जा रहा है।

गाथा २५४

कम्मोदयेण जीवा दुक्षिदसुहिदा हवंति जदि सब्वे ।

कम्मं च ण देसि तुमं दुक्षिदसुहिदा कहं कया ते ॥२५४॥

गाथा २५५

कम्मोदयेण जीवा दुक्षिदसुहिदा हवंति जदि सब्वे ।

कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्षिदो तेहिं ॥२५५॥

गाथा २५६

कम्मोदयेण जीवा दुक्षिदसुहिदा हवंति जदि सब्वे ।

कम्मं च ण दिंतितुहं कहं तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२५६॥

सुख दुःख का कारण—जब कि जीव कर्म के उदय से ही दुःखी और सुखी होते हैं और किसी के कर्म को तुम दे सकते नहीं हो तब फिर तुमने उनको दुःखी सुखी कैसे कर दिया । दुःख और सुख मोहनीय कर्मों की सहायता से वेदनीय कर्मों के उदय के निमित्त से होते हैं, मोहनीय कर्म का उदय न हो और वेदनीय का उदय हो ऐसा तो सम्भव हो सकता है, पर वेदनीय का उदय न हो और मोहनीय का उदय हो, यह सम्भव नहीं है।

विभावों व कर्मों में सम्बन्ध एवं स्वतन्त्रता—यहाँ जीव के विकारों का और कर्मों का परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। ऐसा नहीं है कि जीव के जब विकार होता है तब हाता है इस जीव के ही कारण तथा उस समय जो सन्निधि में कर्मोदय होता है उसको निमित्त कहते हैं। और ऐसा भी नहीं है कि कर्मों का उदय इस जीव में कुछ अपनी किया करता हो, दोनों ही जगह उसका अपना-अपना परिणमन है। फिर भी इस विकार परिणमन करने वाले उपादान में ऐसी कला है कि वह पर उपाधि का निमित्त पाकर अपने आपमें विकाररूप परिणमन कर लेता है ऐसा ही वचना—गोचर एक सम्बन्ध है जिस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये

कोई विशेष ऐसा शब्द नहीं है जहाँ यह भान हो जाये कि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध भी है, और फिर भी उन पर पदार्थों में अपना ही अपना स्वतन्त्र परिणमन है। जिसका निर्मल शुद्ध परिणाम होता है, प्रमाणिक परिज्ञान होता है ऐसे पुरुष को यह सब प्रसंग स्पष्ट विदित हो जाता है।

मोक्ष मार्ग का अवसर—कर्मों का उदय होता है तो जीव में विकार परिणमन होता है और जीव में विकार परिणमन होता है तो उसका निमित्त पाकर नवीन कर्मों का बन्धन हो जाता है। ऐसी स्थिति सुनकर यह शं का न करनी कि जब कर्मों का उदय होता है तो विकार हुआ और विकार हुआ तो कर्मों का बन्धन हुआ। जब कर्मों का बन्धन हुआ तो उदय आयेगा, जब उदय आया तो फिर विकार हुआ। इस प्रकार तो कभी संसार छूट नहीं सकता। ऐसी शं का इस कारण नहीं करना चाहिये कि पदार्थों के विविध परिणमन हुआ करते हैं।

मंद अनुभाग के उदय का अवसर—भले ही अनेक समयों के पहिले के कर्म बंधे हुए आज उदय में आ रहे हैं, सो जब वे कर्म बंधे थे उस बंध के समय में ही बद्ध कर्मों में निषेकों का विभाग हो गया था कि अपनी स्थिति पर्यन्त आबाधाकाल को छोड़कर बा की सारी स्थिति में अमुक-अमुक समय में इतने-इतने अनुभाग वाला इतने-इतने प्रमाण में निषेक का उदय होगा। जैसे किसी एक पूर्व समय के निषेक का विभाग हो गया इसी तरह अनेक पूर्वबद्ध समयों के निषेक का विभाग हो जाता है। उस विभाग के समय में यह वहाँ बँटवारा होता है कि इस समय में इतनी शक्ति के साथ उदय होगा, अमुक समय में इतनी शक्ति के साथ उदय होगा। ऐसे समस्त बंधे हुए निषेकों का एक समय में अपने-अपने विभागों के अनुसार अनेक निषेकों का उदय होता है और उस विभाग के कारण कोई समय ऐसा भी होता है कि जिस समय मंद अनुभाग का उदय हो। ऐसी परिस्थिति होती है निमित्त की ओर से।

विशुद्धि के अवसर—अब उपादान की ओर से देखिये। कर्मों के क्षयोपशम की लब्धि के होने पर इस जीव की विशुद्धि बढ़ती है और वे विशुद्धियाँ किस प्रकार की कर्म परिस्थिति से कितनी प्रकार तक की सीमाओं के भीतर हो सकती हैं? उनमें से यथा अवसर जितना भी जघन्य अनुभागों का विभाव बन सकता है, कषाय का परिणमन हो सकता है ऐसे धीरे-धीरे आत्म ब्रह्म की ओर से होने वाले परिणमन से फिर इसकी विशुद्धि अधिक बढ़ती है और इस प्रकार फिर कर्मों में भी संक्रमण, निर्जरण, सम्वरण की वृद्धि हुआ करती है। और यों फिर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध पूर्वक आत्मा में विभाव कम होता है और कर्मों में ह्रास अधिक होता है।

उपयोग द्वारा कभी किसी विभाव की पकड़ का अभाव—तीसरी बात यह है कि इस जीव को जब कुछ साधारण रूप से कुछ बोध या भेद विज्ञान जगता है और जब उपयोग इस भेद विज्ञान के प्रताप से, अपने प्रज्ञा बल की वृद्धि से तथा किसी अन्य शुद्ध में चित्त लगा होने से विभाव को अझीकार नहीं करता है, ग्रहण नहीं करता है सो कर्मोदयज विकार होने पर भी दूं की उन्होंने उपयोग में स्थान ग्रहण नहीं किया इस कारण वे अब तीव्र बन्ध करने के निमित्त नहीं होते हैं बन्ध प्रसंग में प्रथम तो यह बात है कि नवीन कर्मों का

जो बन्धन होता है उन नवीन कर्मों के बन्धन का निमित्त है उदयागत कर्म, जो कर्म निषेक उदय में आये हुए हैं वे होते हैं नवीन बन्धन के निमित्त । पर उन उदयागत कर्मों में नवीन कर्मों के बन्धन का निमित्तपना हो जाये, इसके निमित्त होते हैं ये रागादिक विकार और ये रागादिक विकार तीव्र बन्धन कराने के निमित्त में निमित्तत्व का निमित्त बन जायें, इसमें कारण है उपयोग का विकार में प्रवेश । यदि उपयोग विकार को ग्रहण करता है अर्थात् विभाव अपनी बुद्धि में उपयोग द्वारा आता है तो उन विकार भावों के निमित्त से उदयागत कर्मों में तीव्र कर्म बन्धन का निमित्तपना हो जाता है । ऐसे अनेक तत्वों के कारण ऐसी परिस्थिति प्रकट होती है कि जीव को अपने विकास में बढ़ने का बल प्रकट होता है ।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताने का प्रयोजन—कर्मों के उदय का जीव के विकार के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है अर्थात् कर्मोदय के बिना जीव में विकार नहीं होता है तिस पर भी कर्म प्रकृति जीव में कुछ भी अपना द्रव्य गुण पर्याय नहीं डालती है किन्तु ऐसा ही सहज मेल है कि अमुक प्रकार की विकार योग्यता वाला उपादान अनुकूल निमित्त को पाकर अर्थात् जिस निमित्त को पाकर यह उपादान अपने आपमें विकार परिणमन कर सकता है ऐसे निमित्त को पाकर यह उपादान अपनी प्रकृति से विकार रूप परिणम लेता है । इस निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध को बताने का प्रयोजन यहाँ यह है कि हे हितार्थी जीव! तू किसी जीव में दुःख अथवा सुख उत्पन्न कर देता है इस प्रकार का भ्रम मत कर और पर की ओर अपना लक्ष्य मत बढ़ा । तू किसी भी जीव के सुख अथवा दुःख को उत्पन्न नहीं कर सकता ये जीव स्वयं ही कर्मों के उदय का निमित्त पाकर सुखी और दुःखी होते हैं ।

सुख दुःखों की कल्पना मूलकता—सुख नाम है साता परिणाम का और दुःख नाम है असाता परिणाम का । जो इन्द्रियों को सुहावना लगे उसे कहते हैं सुख और जो इन्द्रियों को असुहावना लगे उसे कहते हैं दुःख । वेदनीय कर्म का उदय तो सुख-दुःख का यद्यपि साक्षात् निमित्त है पर जब तक उसे मोहनीय कर्म के उदय की सैन नहीं प्राप्त होती तब तक जीव को सुख अथवा दुःख नहीं उत्पन्न होता । जैसे मानो ज्ञानी जीव को भी वह ही वातावरण मिलता है जो एक अज्ञानी पुरुष को मिलता है । अज्ञानी जीव तो उस वातावरण में रहकर मोहनीय के उदय में राग बनाकर, कल्पनाएं बनाकर दुःख अनुभव करता है जबकि ज्ञानी जीव वस्तु स्वरूप के यथार्थ मर्म को लक्ष्य में लेकर क्षोभ नहीं करता है ।

क्षोभरहित ज्ञान बल—ज्ञानी जीव पदार्थों का स्वरूप चतुष्टय, उनकी स्वरूप सीमा उन पदार्थों में ही आरोपित करके किसका किस तरह क्या सम्बन्ध है – यह भी जानता है और पदार्थों का स्वतन्त्र स्वरूप वर्तन भी निरखता है । प्रत्येक पदार्थ अपने आपके प्रदेशों में अपना परिणमन करके उस परिणमन को समाप्त कर देता है और नवीन परिणमन कर लेता है, यों प्रत्येक पदार्थ में अपने स्वरूप परिणमन की धारा चलती रहती है । कोई किसी दूसरे के परिणमन का कर्ता नहीं होता है । ऐसा विशद ज्ञान होने के कारण इस ज्ञानी जीव को ऐसे वातावरण में भी रहकर जहाँ कि यह अज्ञानी संकल्प विकल्प वश दुःखी रहता, ज्ञानी दुःख अनुभव नहीं करता ।

ज्ञान बल का प्रताप—भैया ! पुराण पुरुषों में अनेक पुराण पुरुष ऐसे हुए जिन पर असाता के उदयवश कितने ही उपद्रव और उपसर्ग आये—ऐसे कठिन उपद्रव जिन्हें साधारण पुरुष सह नहीं सकता—जैसे गोबर के उपला भरे कोठे में बन्द करके उपलों में आग लगा देना, नदी में पटक देना, अग्नि से तपाये गए लोहे के डंडों को अंगों में चिपटाना, सिर पर अंगीठी जलाना, स्याल स्यालिनियों द्वारा खून भक्षण किया जाना, कूर जानवर सिंह आदिकों द्वारा हमला करके जान लेना । कितने कठिन उपसर्ग हुए हैं उन तपस्याओं के बीच में यह पवित्र आत्मा रंच भी विचलित नहीं हुआ है । यह सब किसका प्रताप है? ज्ञान बल के कारण मोहनीय कर्मों के उदय को निष्फल बना दिया जाता है और मोहनीय की जहाँ सैन नहीं मिली वहाँ वेदनीय का इतना तीव्र उदय है फिर भी वे महामुनि अपने स्वभावज आनन्द की तृप्ति से विचलित नहीं हुए ।

हितार्थी का लक्ष—सुख दुःख का मूल है तो मोह भाव है । सो यद्यपि वर्तमान स्थिति विकार की है, विकार निमित्त पाये बिना नहीं होते लेकिन अब हम और आप करें क्या? निमित्त की सिद्धि में, निमित्त की चर्चा में, निमित्त की दृष्टि में हम अपने गुण गुजारें तो हित की बात तो नहीं मालूम देती है । यह सब तो निर्णय किए जाने का काम है । हो गया निर्णय, पर दृष्टि किस ओर लगाना है! इसके लिए प्रकट यह उपदेश दिया गया है कि हे कल्याणार्थी! तू अपनी ओर ही दृष्टि दे; तू केवल अपने आत्मा की ओर ही दृष्टि रख । क्या यह आत्मा किसी पर के स्वरूप को लपेटे हुए है । इसके स्वरूप को निरखो । प्रत्येक पदार्थ मात्र अपना स्वरूप ही रखता है ।

सप्तभंगी के प्रयोग में वस्तु स्वातन्त्र्य की झलक—देखो भैया ! सप्तभंगी में पदार्थ अपने स्वरूप से है, पर के स्वरूप से नहीं है, ऐसा दुबारा कह-कहकर उपदेश दिया गया है । केवल इतना ही नहीं बताया कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से है, साथ ही में यह भी बताते जाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ किसी पर के रूप से त्रिकाल में भी नहीं है । इतना जोर देकर सप्तभंगी अनेकान्त में इस तत्त्व को दिखाया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से ही सत् है । इसका अर्थ यही हुआ ना, कि अपने ही द्रव्य से, अपने-अपने ही क्षेत्र से, अपने ही काल से अपने ही भाव से सत् है, तब दूसरे भंग की ओर से यह निर्णय हुआ ना, कि कोई भी पदार्थ दूसरे के द्रव्य से सत् नहीं है, दूसरे के क्षेत्र से सत् नहीं है, दूसरे के काल से सत् नहीं है, दूसरे के भाव से सत् नहीं है ।

स्व-पररूप से सत्त्वासत्त्व का विश्लेषण—भैया ! सप्तभंगी के कन्ट्रोल की कृपा-शीलता समझने में उदाहरण के लिए प्रकृत प्रसंग ही ले लो । कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव विकार परिणमन करता है । यहाँ मान लो दो चीजें रक्खी हैं एक विकृत जीव और दूसरे ये कर्मादय परिणत पुद्गल । क्या कर्म पुद्गल जीव के स्वरूप से सत् है? कैसे कहा जायेगा? यह तो सप्तभंगी सिद्धांत से ही स्पष्ट है । क्या यह जीव कर्म पुद्गल के स्वरूप से सत् है? नहीं है । तो इसका अर्थ यह हुआ ना कि जीव कर्मों के द्रव्य से सत् नहीं है, कर्मों के क्षेत्र से सत् नहीं, कर्मों के काल से सत् नहीं, कर्म जीव के क्षेत्र से सत् नहीं । कितनी सावधानी से ज्ञान करना है कि इन दोनों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होकर भी ये दोनों कैसे स्वतंत्र सत् हैं ।

कर्म के चतुष्टय से जीव का सत्त्व न होना—जीव कर्म द्रव्य की अपेक्षा सत् नहीं है, इसका अर्थ यह है कि कर्मों का प्रदेश कर्मों का गुण पर्याय पुंज कर्मों का पिण्ड जीव का स्वरूप नहीं बन जाता है। जीव कर्म के क्षेत्र से सत् नहीं है, अर्थात् जीव के प्रदेश जीव के स्वरूप हैं; कर्म के परमाणु कर्म पुद्गल के स्वरूप हैं। कर्म के काल से जीव सत् नहीं, इसका अर्थ यह है कि कर्मों की परिणति से जीव का परिणमन नहीं है। जीव में जीव का परिणमन है, कर्म में कर्म का परिणमन है। इस चर्चा में बार-बार चित्त न लगाओ कि निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो है? है तो एक बार ज्ञान करके उसे रख दिया। उसका विरोध करके यदि दृष्टि बनायी गयी हो तो वहाँ बार-बार इस चर्चा को उठाने का काम होना चाहिये था। जीव कर्मों के भाव से सत् नहीं इसका अर्थ यह है कि कर्मों में जो गुण हैं, शक्ति है, अनुभाग है, वह कर्म में ही है, यह जीव में नहीं आता।

जीव के चतुष्टय से कर्म का सत्त्व न होना—इसी तरह जीव के द्रव्य से कर्म सत् नहीं है इसका अर्थ यह है कि जीव का जो स्वरूप है, द्रव्य है, गुण पर्यायात्मकपना है, चैतन्यात्मकता है वह जीव में ही रहती है वह चैतन्यात्मकता कर्म में नहीं पहुंचती है। जीव के क्षेत्र से कर्म नहीं है इसका अर्थ यह है कि जीव के प्रदेश जीव में ही होते हैं। कहीं कर्म जीव द्रव्यात्मक नहीं बन जाते हैं। जीव के काल से कर्म नहीं है इसका यह अर्थ है कि जीव की किसी परिणति से कर्मों की परिणति नहीं होती है। निमित्त नैमित्तिक भाव है उसे ज्ञात करके छोड़ देना है। समझ लो, पर यहाँ इस सप्तभंगी से यह निर्णय तो किया जाये कि किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य में क्या रंच भी प्रवेश है? इस बात के समझने के बाद निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। जीव के भाव से कर्म सत् नहीं है इसका अर्थ यह है कि जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक जो गुण हैं वे शक्तियाँ जीव में ही होती हैं वे कभी कर्म में नहीं पहुंच सकती हैं। त्रिकाल में एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं है। ज्ञानी वस्तु के स्वातन्त्र्य को यों विशद ज्ञान रहा है। सो जो निमित्तभूत कर्मों में भी यह देख रहा है कि यहाँ भी प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना अपने में परिणमन चल रहा है ऐसा ज्ञानी जीव इस मिले हुए बाह्य समागमों में क्या यह भ्रम कर सकेगा कि मैं दूसरे जीवों को सुखी करता है अथवा दुःखी करता हूँ।

पुण्योदयी की छाँट—मैया ! सोचते हैं लोग ऐसा कि मैं अपने बच्चों को पाल रहा हूँ, पोष रहा हूँ, सुखी कर रहा हूँ, पर यह तो बतलावों कि वह दो एक वर्ष का बालक आपको प्रसन्न करने की चेष्टा करता है क्या? सोच लो खूब विचारकर, बच्चा आपको प्रसन्न करने की कुछ भी चेष्टा नहीं करता क्योंकि उस दो-एक वर्ष के बच्चे को अभी उतना होश भी नहीं है, आप ही उसको प्रसन्न रखने का बड़ा श्रम करते हैं। उसे हाथों हाथ उठाये फिरते हैं गोद में रखकर खिलाते हैं। उसके खेलने के लिये छोटी-छोटी बग्धियाँ मंगाते हैं, उसको खिलाने को नौकर दासी रखते हैं। कितनी आप उस बालक की सेवा कर रहे हैं। क्या वह बालक आपकी कुछ भी सेवा कर रहा है। ऐसी स्थिति में आप यह बतलावों कि पुण्य आपका बड़ा है या बालक का बड़ा है। जिस बालक को आप टक-टकी लगाकर देखते हैं नाना प्रकार से उसकी सेवा करते हैं ऐसे

बालक का पुण्य बड़ा है, आपका पुण्य बड़ा नहीं हैं, बालक का पुण्य बड़ा है जिस पुण्योदय के निमित्त से आपको उसकी सेवा और चिंता रखनी पड़ती है।

सुख-दुःख तत्त्व के अध्यवसाय की अज्ञानरूपता का कारण—तो भला जिसके पुण्य का इतना बड़ा उदय चल रहा है उसके सम्बन्ध में ऐसा ध्यान बनाना कि मैं इसे सुखी करता हूँ, मैं इसे पालता हूँ, पोषता हूँ यह कहां तक युक्त है। सभी जीव अपने कर्मों के उदय से दुःखी और सुखी होते हैं। कर्म तुम्हें कुछ देते नहीं तब फिर यह भाव क्यों करते हो कि मैं दूसरे जीवों को सुखी करता हूँ अथवा दुःखी करता हूँ, यह अध्यवसाय करना इस कारण अज्ञान है कि बात ऐसी है नहीं और मानता जा रहा है।

सुख-दुःख का अवश्यंभावी निमित्त कर्मोदय—जब कि जीव कर्मों के ही उदय से सुखी और दुःखी होते हैं तो मैंने सुखी दुःखी किया पर को, यह कैसे सत्य हो सकता है। सांसारिक जो सुख दुःख हैं वे जीव के अपने आप सहज स्वभाव से नहीं होते हैं। होते हैं यद्यपि इस आत्मा की परिणति में, पर सहज स्वभाव से होने लगें तो फिर यह या तो अटपट हो जायेगा या कभी नष्ट हो जायेगा, और नष्ट होकर भी, फिर हो जायेगा, धोखा बना रहेगा तो सुख दुःख जीव के स्वभाव से यदि बनते होते, उनमें कर्म उपाधि का निमित्त न होता तो जब चाहे सुख हो जाये, चाहे दुःख हो जाये, जब चाहे मोक्ष हो जाये, जब चाहे संसार में आ जाये सारी अव्यवस्था हो जायेगी। इसलिये ये सुख-दुःख जीव के स्वभाव से नहीं होता है। और न ये अन्य जीवों के करने से होता है, क्योंकि सुख और दुःख जीव में कर्मों के उदय के निमित्त से होते हैं। उस कर्मोदय में यदि फेरफार हो तो सुख दुःख में भी फेरफार हो सकता है। पर किसी दूसरे के कर्म में कोई दूसरा फेरफार नहीं कर सकता है। इस कारण दूसरे के द्वारा सुख दुःख नहीं होता है।

उपदेश का प्रयोजन—ऐसे उपदेश का प्रयोजन यह है कि तू अपने इस अकृत्रिम, अविनाशी सहज चैतन्य स्वरूप की ओर दृष्टि दे। इस सुख दुःख दिए जाने का विकल्प बनाकर कायर मत बनो अथवा अहंकारी मत बनो। ये सब मायारूप हैं इससे निवृत्त होओ और अपने विज्ञान घन केवल चित्प्रकाश की दृष्टि करो। इस प्रसंग से अन्तर में यह एक ध्यान देना कि ये सुख दुःख यद्यपि कर्मोदय का निमित्त पाकर होते हैं किन्तु कर्मोदय की अवस्था जो कर्मों में है वह कर्म प्रदेशों से निकल कर जीव प्रदेश में आती हो ऐसा नहीं है, किन्तु ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक मेल है कि उस योग्य परिणम सकने वाला उपादान ऐसे योग्य अनुकूल निमित्त को पाकर अपनी परिणति से विकार रूप परिणम लेता है। तू निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के प्रसंग में भी अन्तर में प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप को दृष्टि करके यह जान कि वहाँ भी सर्वत्र परिणमन खुद में खुद का ही हो रहा है। सर्वत्र अपनी स्वतन्त्रता की दृष्टि दृढ़ बना, इसके लिये ही समस्त उपदेश हैं।

दूसरों के द्वारा सुखी दुःखी न हो सकने का एक दृष्टान्त—जब तुम्हारे कर्मों को दूसरे लोग दे नहीं सकते तो फिर उन्होंने सुखी दुःखी कैसे किया। क्यों मान रहे हो कि दूसरे जीव मुझे सुखी अथवा दुःखी करते हैं? श्रीपाल पुराण में ही तो पढ़ा है न, कि श्रीपाल को ध्वल सेठ ने नष्ट करने के लिए क्या किया व नीचा दिखाने के लिये क्या ढोंग रचा था। समुद्र के बीच किसी भी प्रकार श्रीपाल को पटक दिया, लेकिन

किसी के दुःखी करने से कोई दुःखी हो जाये ऐसी किसी के हाथ की बात नहीं है, वह गिर करके किनारे पहुंच गया। पुण्य के उदय से वहाँ के राजा ने आधा राज्य दिया और राजा ने अपनी पुत्री से विवाह भी कर दिया। इतने पर भी धबल सेठ न माना तो खुद भी अपने दोस्तों के सहित भांडों जैसा रूप बनाकर राजा के दरबार में जाकर वे सब गीत गाने लगे। और श्रीपाल को अपना भांजा भतीजा बतलाकर ऐसा जतलाने लगे कि श्रीपाल तो भांडों का लड़का है। इसके बाद राजा को क्रोध आया तो श्रीपाल को प्राणदण्ड देने लगा। मगर उदय को बात सर्वत्र देखते जावो श्रीपाल का और यश व सुख बढ़ा।

व्यावहारिकता से परिचय—भैया! वहाँ ही क्या अपने इस जीवन में ही रोज-रोज देखते जावो। कितनी ही आपमें सामर्थ्य हो, कितना ही आपमें ऐश्वर्य हो, आपका काम समय पर नहीं होता। कोई न कोई बात से आपको बाधा हो जायेगी, और कोई जीव कितना ही आपको बाधा देने का, दुःख देने का विकल्प बनाये हो, कार्यक्रम बनाये हो लेकिन आप पर कुछ असर नहीं होता बल्कि बुरा की जाने वाली चेष्टाओं के निमित्त से कुछ समृद्धि हो जाती है। कोई जीव किसी दूसरे जीव को दुःखी नहीं किया करता। जीव के दुःख में साक्षात् निमित्त कर्मों का उदय है। पर इतनी दृष्टि अपने आप पर करुणा करके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के प्रसंग में भी बनाए रखना चाहिये कि उस निमित्त के सत्रिधान में यह उपादान अपनी परिणति से विकार रूप परिणमता है, न कि निमित्त की परिणति से। इतनी बात चित्त में ओझल न करना चाहिए। सम्बन्ध है और जब कर्मोदय का निमित्त होता है उस समय नोकर्म रूप आश्रय रूप दूसरे जीव या अचेतन पदार्थ हुआ करते हैं। तो व्यवस्था में बताया है कि जगत की व्यवस्था इस प्रकार से है।

कैवल्य की उपादेयता—भैया! जिसे कैवल्य चाहिए हो उसे तो कैवल्य की दृष्टि करना चाहिये। कैवल्य का अर्थ है कैवल रह जाना। अकेला रह जाना जैसा स्वयं यह अपने आप है वैसा ही रह जाना। इसका नाम है कैवल्य की प्राप्ति। मैं द्रव्य कर्म भाव कर्म, व नोकर्म से रहित तो होना चाहूं और अपने आपके ऐसे कैवल्य स्वभाव को न देखूं जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित है अर्थात् न तो आश्रयभूत पर पदार्थों का इसमें प्रवेश है और न निमित्तभूत द्रव्यकर्म का इस चैतन्य स्वभाव में प्रवेश है और न नैमित्तिक भाव का इस चैतन्यस्वभाव में प्रवेश है, विभाव परिणमन होते हुए भी विभाव का स्वभाव में प्रवेश नहीं है अर्थात् वे सब विभाव स्वभावरूप नहीं हो जाते। प्रयोजन कैवल्य की प्राप्ति का है और कैवल्य की प्राप्ति, कैवल्य की दृष्टि, आलम्बन, अनुष्ठान स्थिरता से होती है। जितना भी वर्णन है, जितना आचरण है, व्रत, तप, संयम है सबका प्रयोजन इस कैवल्य को अपनी दृष्टि में सुरक्षित बनाना है।

तत्त्व प्रकाश के बिना विपदाओं का जमाव—भैया! जीव को जो विषय-कषायों की विपत्तियाँ घेरे हैं उसका कारण क्या है कि वे विषय कषाय भाव कलंक से रहित सहज ज्ञानानन्द रस से निर्झर अपने स्वरूप की दृष्टि नहीं करते। तब जहाँ उन्हें मौज जंचा, जहाँ उन्हें कुछ सुख प्रतीत हुआ वहाँ उनकी दृष्टि लगेगी ही। एक मिथ्या स्वभाव का खण्डन किया जाने पर सन्मार्ग पर चलने का उत्साह बन सकता है किन्तु जब तक मोह का सद्भाव है, मिथ्याधारणा है तब तक इस जीव को मोक्षमार्ग नहीं है। जायें कहाँ? वह रास्ता ही उसे

नहीं सूझा । मुझे बनना क्या है? इसका अनुभव ही नहीं हो पाया । तो इस प्रकार अपने इस आनन्दमय ज्योतिर्मय स्वभाव को अपने उपयोग में सुरक्षित बनाए रखने के लिये ज्ञानी पुरुष इन व्यावहारिक प्रसंगों में यह भावना कर रहा है कि मेरे कर्मों को कोई दूसरा जीव देता नहीं है, इसलिए मैं किसी दूसरे के द्वारा दुःखी नहीं किया जाता हूँ ।

प्रत्येक दुःख में मूल कारण अपना अपराध—भैया! जो भी दुःखी होता है वह अपने अपराध से दुःखी होता है, यदि यह जीव निरपराध हो तो दुःखी नहीं हो सकता है । जगत की ओर दृष्टि की यह ही प्रथम अपराध है । किसी ने कोई अपमानजनक वचन कहा उसको सुनकर हम दुःखी होते हैं । तो यह लगाव रखकर ही तो दुःखी होते हैं कि इन चार आदमियों में इसने मेरी तौहीन की है । अरे इन चार आदमियों पर अपने सुख के लगाव की दृष्टि से निगाह रखना प्रथम तो यह अपराध किया और इस अपराध के कारण विकल्प हुआ, उन विकल्पों से यह दुःखी हुआ, उस अपमानजनक शब्द बोलने वाले ने दुःखी नहीं किया, वह तो अपने कषाय के अनुकूल अपना परिणमन करके अपने में ही संतप्त हुआ उससे मुझे दुःख नहीं आया । किन्तु मैं ही कल्पनाएँ बनाकर दुःखी हुआ । ऐसी कल्पनाएँ बनाना यही मेरा अपराध है और उस समय उस प्रकार के कर्मोदय का निमित्त है ।

परजीवों से सुख का अलाभ—जैसे किसी जीव के द्वारा मैं दुःखी नहीं किया जा सकता । इसी तरह सुख के सम्बन्ध में भी सोचिए कर्मों के उदय से जब जीव सुखी होता है और कर्मों के उदय को कोई दे सकता नहीं या मैं किसी को दे सकता नहीं हूँ तो मुझे दूसरे जीव ने सुखी अथवा दुःखी कैसे कर दिया । अकृतपुण्य की कथा सुनी होगी, जिसने कोई पुण्य नहीं किया था अथवा किसी धर्म कार्य में बाधा डालने वाला कोई अकृतपुण्य बना वह राजपुत्र था उसके पैदा होते ही राज्य में विघ्न आने लगे और प्रजा में संकट छाने लगे तो प्रजाजनों ने मिलकर कहा कि महाराज इस पुत्र के रहते हुए तो आपका भी अनर्थ है और हम लोगों का भी अनर्थ है इस कारण इसे देश से अलग कर दें तो सुख साता रहे । माँ के साथ वह अकृतपुण्य चला । राजा ने बड़ा धन वैभव साथ लगा दिया ताकि दुःख न हो किन्तु रास्ते में वह वैभव खिर जाता है, असर्फियाँ भी लुट गईं । कितने सुख के साधन जुटाए पर उसे सुख नहीं प्राप्त हो सका ।

संसार की क्लेशरूपता—भैया! वैसे तो जगत में सुख रंच भी नहीं है, सारे क्लेश ही क्लेश हैं । किसको सुखी मानते हो? वैभव अच्छा आ गया, आमदनी अच्छी हो रही है यह कोई सुख है क्या? ऐसी स्थिति में क्या आकुलता और बेचैनी नहीं रहती है? क्या अपने पवित्र परमात्म-स्वरूप से हटकर इन जड़ पदार्थों से आनन्द पाया जाता है? रंच भी आनन्द इन बाह्य पदार्थों से नहीं पाया जाता है । चार आदमियों के प्रसंग की कुछ बात सुनने को मिले तो उससे कौन-सा आनन्द मिलेगा? क्या निराकुल होकर यह बैठ सकता है? अपने आपके चित्त में विकल्पों की चक्की यह नहीं चला रहा है क्या? जितनी आकुलताएँ निन्दा के सुनने में होती है अन्तर में उतने ही क्लेश प्रशंसा के सुनने में होते हैं, पर दृष्टि इसने विपरीत कर रखी है, इसलिए प्रशंसा में व समृद्धि में यह मौज मानता है ।

सुख का कारण स्वयं की समीचीनता—कैसा ही कष्ट आए । कैसे ही वचनों की बौछार हो, यदि यह ज्ञानघन आत्मा आनन्द के स्रोतभूत अपने स्वभाव में विहार करे, उस ओर उन्मुख रहे बाहर में जो कुछ होता हो अपनी बला से, उनको मैं कुछ नहीं करता, वे मेरे मैं कुछ नहीं करते, ऐसा अपना साहस बनाकर अपने आपके स्वभाव की उन्मुखता की ओर चले तो इसको सहज आनन्द ही है और यह स्थिति, यह आनन्द का परिणाम इस जीव के भव-भव के कर्म क्लेशों को नष्ट कर देता है । मुझे कोई दुःखी नहीं कर सकता । मैं ही स्वयं उल्टा चलूँ और लोग मुझे सुख दें, यह कैसे हो सकता है । जब तक आप खुद भले हैं तब तक दूसरे जीवों के द्वारा आपको बाधा, कष्ट नहीं पहुँच पाता है, और यदि आप ही अपने भलेपन को छोड़कर व्यवहार में भी न देखे जाने वाले कुमार्ग को अपना लें तो उससे तो घर के लोग भी आपके ऊपर आफत डालेंगे, उपद्रव करेंगे ।

भली दृष्टि—तो किसी जीव के द्वारा सुख मिल रहा है क्या? खुद भले हैं तब सुख हो रहा है । खुद भले न रहें तो कोई हमारे सुख साता में रंचमात्र भी सहायक नहीं हो सकता । परम उपेक्षा संयम में लगाने के लिए ऋषीजनों का उपदेश है, और जो भी उपदेश हो, जिन नयों का उपदेश हो उस काल में उस नय की पूर्ण दृष्टि रखकर उस विषय को समझाकर अपना प्रयोजन निकाल लें । प्रयोजन है निज स्वभाव की दृष्टि होना । विवाद के काम ऐसे हैं कि जैसे किन्हीं आदमियों में झगड़ा होता हो और उस झगड़े के बीच खड़े हो जायें तो खुद पर भी कुछ संकट आ सकता है । पुलिस गवाही में ले-ले और कुछ न कुछ बात बन जाये । तो यह विवाद का अवसर है विवाद में पड़ना, उस विवाद में रंच भी प्रवेश करना, एक ऐसा संकट प्रवाही अवसर है कि उससे विकल्पों का संकट बढ़ना तो सुगम है पर उससे विकल्प हल्के कर लेना, कम कर लेना, अपने में और दूसरे में शान्ति का वातावरण बना सकना यह दुर्गम है! भैया ।

विवाद नाशिनी विधि—कौन सा विवाद? विवाद रखने वाले लोग विवाद रखें क्योंकि किसी भी बात को जिस दृष्टि से कहा गया है उस दृष्टि से न माने और अन्य दृष्टियों से मान ले तो वह विवाद ही है, संकट ही है, और जिस दृष्टि से जो वर्णन हो उस वर्णन को यदि बहुत विशद स्पष्ट निष्पक्ष समझना है तो जब तक उस दृष्टि की मुख्यता को उपयोग में न रखे तब तक वह बात विशद समझ में आ न सकेगी । निश्चय की बात जब कहीं जा रही हो तो दृढ़ता के साथ पूरा बल देकर, ‘एव’ लगाकर, ‘ही’ लगाकर उस बात को कहने में मन में संकोच न करना चाहिए । यह बात हमें सप्तमंगी न्याय ने सिखाई है ।

नय के क्षेत्र में एवकार का प्रयोग—भैया! सप्तमंगी में कहते हैं ना, स्याद् अस्ति एव, स्याद् नास्ति एव । पदार्थ इस अपेक्षा से है । ही लगाने में नय के साथ कोई बुरी बात नहीं है । नय के साथ ‘ही’ लगाना ही चाहिए । जैसे किसी पुरुष के बारे में यह कहा जाये कि यह अमुक का पुत्र ही है, तो यह गलत है क्या? ‘ही’ लगाना उत्तम बात है, और यदि यह कहा जाये कि यह अमुक का पुत्र भी है तो गलत हो गया । नय लगाकर “भी” लगाना गलत मार्ग है, नय लेकर ‘ही’ लगाना सही मार्ग है । जब आप निश्चय को दृष्टि में लेकर जिसका कि विषय केवल एक पदार्थ का देखना है, एक अखण्ड स्वभाव का निरखना है, निश्चय जब

एक पदार्थ को निरखने का काम कर रहा है तो जब हम उसकी दृष्टि में होकर पदार्थ को जानते हैं तो एक निर्णय के साथ कहो कि एक द्रव्य में द्रव्य कुछ भी नहीं करता । कुछ नहीं लगता; रंच सम्बन्ध नहीं । फिर 'ही' कहने में संकोच की बात नहीं । हाँ अगर नय छोड़ दें और फिर 'ही' लगावें तो दोष है ।

नय प्रकरण का प्रयोजन—ये रागादिक विकार आत्मा के स्वभाव से होते हैं क्या? क्या ये रागादिक विकार निमित्त के सत्रिधान बिना होते हैं? नहीं होते हैं । ठीक है मगर निमित्त नैमित्तिक कहकर हम किसी प्रयोजन पर तो पहुंचे कि केवल पर की दृष्टि ही रख करके हम अपना समय गुजारें । यह ज्ञान इसलिए है कि तुम यह जानो कि रागादिक भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, ये नैमित्तिक हैं पर-उपाधि के होने पर ही होते हैं, पर-उपाधि के न होने पर नहीं होते हैं । इस कथन ने स्वभाव पर पहुंचाया है न कि निमित्त के गौत गाने को कहा । यहाँ बहुत समय से यह चर्चा चली आ रही है कि न मैं दूसरे को जिलाता हूँ, न मारता हूँ, न दुःखी करता हूँ, न सुखी करता हूँ, और न कोई मुझे दुःखी करता है, न सुखी करता है, न जिलाता है, न मारता है । यह सब इस दृष्टि से चल रहा है कि लोग आश्रयभूत पदार्थों को निमित्त मान लेते हैं और कर्ता मान लेते हैं, पर को पर का कर्ता मान लेना भला आशय नहीं है, क्योंकि इसमें स्वरूप की सत्ता ही नष्ट होती है । कोई किसी में अपना परिणमन डाल दे तो स्वरूप रहा ही फिर क्या ।

अपने ही परिणमन का अपने में ही उदय, अपने में ही विलय—भैया ! तुम्हारे व्यवहार में भी ऐसी पचासों घटनायें आती हैं सुबह से शाम तक, जिनमें ऐसा भाव होने को होता है कि देखो मुझे इसने यों कहा, इसने मुझ को यों किया, यह मेरे लिए ऐसी चेष्टा कर रहा है, यह मुझे दुःखी करना चाहता है, यह मुझे धोखा देना चाहता है, यह मेरा विनाश करना चाहता है, पचासों घटनाएँ आती हैं, किन्तु ज्ञानी का ज्ञान तो यह है कि वहाँ यह जान सकता है कि उसने अपने आपमें अपना कषाय परिणमन किया, इच्छा का प्रयत्न किया । इतना काम तो इसका है, इसके आगे इसका काम नहीं है । इसके आगे यदि मैं बुरा मानता हूँ, सुखी होता हूँ तो वह मेरी मूर्खता है । मैं ही अपने विकल्प से अपने आपको संकटों में डालने वाला हूँ । यह ज्ञान एक सन्तोष का सागर है । यहाँ से खूब सन्तोष का पान करते रहिए । जितनी ही विविक्त की दृष्टि होगी, सर्व पदार्थों से अलग हटोगे, सबसे निराले केवल अपने आपके स्वभाव की दृष्टि होगी उतना समझो कि अपने आपको संतोष होगा, तृप्ति होगी, शरण मिलेगी, शांति मिलेगी, सारी बातें जो उत्तम हैं सिद्ध होंगी ।

किसी का सुख दुःख अन्य के द्वारा किया जाना अशक्य—जीव की सुख और दुःख दोनों ही अवस्थायें उनके अपने-अपने कर्मों के उदय से होती हैं । यदि उनके वैसे कर्मों का उदय न हों तो सुख और दुःख किया जाना अशक्य है । उनका कर्म कोई दूसरा जीव नहीं दे सकता है । किसी के द्वारा किसी दूसरे जीव को कर्म दिये नहीं जा सकते । इस कारण तुमने दूसरे को सुखी-दुःखी किया यह कहना कैसे युक्त हो सकता है? जीव को कर्म अपने-अपने परिणामों से अर्जित होते हैं । किसी के कर्मों को कोई दूसरा कर नहीं सकता । सुख और दुःख में निमित्त भी कर्म होते हैं; दूसरा जीव नहीं होता है । दूसरा जीव तो उसके कर्म के उदय में नोकर्म होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से कोई किसी को सुखी-दुःखी करे यह बात नहीं हो सकती है

।

अज्ञान पूर्ण विचार—जो बात नहीं हो सकती है वैसी कल्पना बनाना सो ही तो अज्ञान है । जैसे शरीर आत्मा नहीं है किन्तु यह मैं आत्मा हूँ, ऐसे शरीर के प्रति कल्पना बनाई तो यही अज्ञान हुआ । जगत् में कोई पदार्थ मेरा नहीं है सर्व पर हैं । धन वैभव चेतन अचेतन मित्रजन परिग्रह सब मेरे को असत् है, पर सत् हैं । जब वे पर हैं सत् हैं फिर भी उनको अपना मानना कि यह धन वैभव मेरा है, यही तो अज्ञान कहलाता है । इसी तरह मैं दूसरे को सुख दुःख दे ही नहीं सकता क्योंकि सुख दुःख एक उनका परिणमन है । वह परिणमन उनके गुणों के विकार से उत्पन्न होता है और उस काल में उनका कर्मदय निमित्त है । न मैं निमित्त ही हूँ दूसरे के सुख दुख का और न मैं उपादान ही हूँ । इसलिए मैं दूसरे को सुखी दुःखी करता नहीं और फिर भी ऐसा मानूँ कि मैं दूसरे को सुखी दुःखी करता हूँ तो यह अज्ञान परिणाम ही तो हुआ ।

किसी के सुख-दुःख का अन्य जीव की चेष्टा के साथ अन्वय व्यतिरेक का अभाव—भैया ! सर्वत्र देख लो, तीनों लोक में जहाँ जो जीव है, जो संसारी प्राणी है वह अपने-अपने ही कर्मों के उदय से जीता है, मरता है, दुःख पाता है, सुख पाता है । पुराणों को पढ़कर देख लो । आजकल ही सब जीवों की प्रवृत्तियों को देख लो । कोई दूसरे को कितना ही उद्यम करे कि यह खूब सुखी रहे पर नहीं रह सकता । कोई दूसरे को दुःखी करने का परिणाम बनाए, यत्न भी करे पर दूसरा दुःखी नहीं होता है । तुम तो करने वाले तब कहलाओगे कि तुम्हारे करने से हो ही जाये । कभी हुआ, कभी न हुआ । तो करने वाले तो नहीं कहलाए, कभी बन गया, कभी न बना । जब बन गया तब भी तुम उसमें कारण नहीं हो । तुम किसी को दुःख पहुंचाओ और वह दुःखी हो ही जाये ऐसा नियम तो नहीं है ना, दूसरे का दुःखी होना उसके परिणाम पर निर्भर है ।

परकर्तृत्व की बुद्धि की अज्ञानरूपता—लोक में जो भी प्राणी मरण करते हैं । वे अपनी आयु के क्षय से करते हैं और जीवित रहते हैं तो अपनी आयु कर्म के उदय से । तो जो यह सुख देखा जाता है वह मोहनीय के सहयोग को पाकर वेदनीय कर्मों के उदय से होता है और जो दुःख देखा जाता है वह भी इसी तरह वेदनीय के उदय से होता है । यह बात बिल्कुल निश्चित है । इस निर्णय में कहीं भंग होता हो तो दिखाओ । क्या किसी प्राणी को कर्मों के उदय बिना भी दुःखी देखा है? ये सुख दुःख बिना कर्मों के आये हुए क्या किसी को हुए भी हैं । जब कर्मों के निमित्त बिना जीवन, सुख, दुःख होते ही नहीं हैं और तेरे बिना हो जाते हैं अर्थात् तू किसी को सुखी या दुःखी करे ऐसा है ही नहीं । तेरे प्रयत्न के कारण दूसरे दुःखी सुखी नहीं होते फिर भी ऐसा परिणाम बनाते हैं कि मैं दूसरे को सुखी दुःखी करता हूँ या दूसरे के द्वारा सुखी दुःखी किया जाता है । यह निश्चय अज्ञान है ।

जीव विकार में अन्य जीव के निमित्तत्व का अभाव—कोई दूसरा किसी दूसरे के मरण, जीवन, सुख और दुःख को उत्पन्न नहीं कर सकता यहाँ वस्तुगत स्वरूप कहा जा रहा है । यों तो व्यवहार में ऐसा ही लगता है कि वह माता बच्चे को कैसा सुखी रखती है । अथवा दुश्मन दूसरे दुश्मन पर कैसी कूरता कर

हमला करके मार डालता है। परन्तु तत्त्व की बात देखो तो अजीव पदार्थ के विकार में अजीव भी निमित्त होता है और जीव भी परन्तु जीव पदार्थ के विकार में अजीव पदार्थ ही निमित्त होता है जीव नहीं। यद्यपि अन्य जीवों को निमित्त कहने की रुढ़ि है पर उनको आश्रयभूत तो कह सकते हैं निमित्त नहीं कहा करते हैं।

आश्रयभूत और निमित्त का यथास्थान प्रयोग—भैया! कुछ तो विवाद इसलिये भी बढ़ गया कि निमित्त उपादान की चर्चा के प्रसंग में निमित्त को भी निमित्त शब्दों से कहना और आश्रयभूत पदार्थ को भी निमित्त शब्दों से कहना। यह दशा स्पष्ट रहे बोध में कि निमित्त वह कहलाता है जिसके साथ अन्य व्यतिरेक हो जो निमित्त का सहायक न हो अर्थात् जिसका योग होने पर कर्म निमित्त हो सके वह नोकर्म हुए। आश्रयभूत (नोकर्म) को भी निमित्त कह डालना और निमित्त को भी निमित्त कह डालना ऐसी प्रक्रिया प्रयोग होने पर किसी बात का रखना फिट नहीं बैठ पाता। जितने भी जगत के प्राणी हैं उनके सुख दुःख उत्पादन तो उनकी योग्यता से होते हैं। उस परिणमन को कोई दूसरा पदार्थ नहीं करता है। निमित्तभूत पदार्थ भी उनका परिणमन नहीं करता है। कोई भी विकार पदार्थ में स्वभावतः नहीं हुआ करता। उपादान विकार रूप परिणमता है तो किसी पर उपाधि का निमित्त पाकर ही परिणमता है। किसी पदार्थ को ऐसी अटक नहीं पड़ी है कि मैं अब अगले समय में इस रूप ही परिणमूँगा जिससे यह शंका की जाये कि निमित्त नहीं मिला तो परिणमन रुक जायेगा। उसे अटक ही नहीं है। जो मिलेगा उसके अनुकूल परिणम जायेगा। जो भी परिणमन है प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ज्ञात है इसमें वह नियत है।

परिणति की सर्वत्र स्वतन्त्रता—उपादान में तो परिणमन का स्वभाव पड़ा है और चूंकि वह विकार रूप परिणमन की योग्यता रख रहा है सो उसमें अनेक प्रकार अनेक विकारों रूप से परिणमने की योग्यता है। अब जैसा निमित्त मिला उसको पाकर यह उपादान अपनी परिणति से अपनी परिणति में स्वतंत्र होता हुआ परिणमता है। स्वतंत्र होता हुआ परिणमने का अर्थ यहाँ यह है कि अब परिणमन नामक क्रिया में वह किसी की अपेक्षा नहीं करता अर्थात् जैसे मृदंग में हाथ के द्वारा पीटे जाने पर जो शब्द रूप परिणमन हुआ सो मृदंग के शब्द रूप परिणत होने की स्थिति में मृदंग को किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं हुई। यह बहुत सूक्ष्म दृष्टि की बात है कि निमित्त होकर भी उपादान अपनी परिणति से परिणमते हुए की क्रिया में स्वतन्त्र है, परिणमीयता अन्य की अपेक्षा नहीं करता है। निमित्त के सन्निधान बिना होता नहीं और फिर भी उपादान अपनी परिणति से परिणमन की क्रिया में पर की अपेक्षा रखता नहीं। पदार्थों के परिणमन में स्वतंत्रता और वह पदार्थ विकार रूप परिणमने की योग्यता रखते हुए अपना निमित्त पाकर विकार रूप परिणमता है सो देखते जावो।

निमित्त पाकर ही उपादान ने अपने आपमें ऐसा विकार रूप प्रभाव उत्पन्न किया, विकार उत्पन्न किया यह भी ठीक है। मगर परिणमन रूप जो क्रिया है उस परिणमन क्रिया में अपेक्षा नहीं है। इसका अर्थ यह है कि किसी दूसरे पदार्थ के परिणमन को ग्रहण करके या दूसरे पदार्थ के आधे परिणमन को लेकर उपादान परिणमन बनाता हो ऐसा नहीं है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का यह भाव है कि विकार रूप परिणमने वाला

उपादान किसी निमित्त को पाकर अपने में ऐसा विकार बनाया करता है, यह बात दिखाने वाला निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। पर प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप चतुष्टय से ही सत् है। दूसरे के स्वरूप चतुष्टय से सत् नहीं है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान करने के बाद फल में यह ग्रहण करना चाहिए कि विकार हुआ है तो यह वस्तु के स्वभाव से नहीं हुआ। वस्तु अखण्ड परमपारिणामिक भाव स्वरूप है।

निमित्त ने विकार किया मानने पर मोक्षमार्ग का अभाव—अच्छा भेया ! परिणति से मान लो हुआ ही नहीं विकार, निमित्त की परिणति से विकार हो गया तो इस मान्यता में मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता है और स्वभाव से हो गया विकार तो भी मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता है। निमित्त ने विकार किया इस दृष्टि में भी मोक्षमार्ग नहीं है और जीव अपने आप विकार किया करे तो जैसे ईश्वर को सृष्टि कर्ता मानें तो वे जीव परवश हो गये, वह चाहे तो मुक्ति दिलाए। अथवा उन लौकिक जनों की दृष्टि में मुक्ति भी क्या है? जब वे उन जीवों के स्वयं का परिणमन नहीं मानते कि मुक्तिरूप परिणमन भी यह जीव स्वयं करता है, चाहे ईश्वर दिलाए तो भी। इतनी भी दृष्टि जब लौकिक जनों की नहीं है तो अब मुक्ति में कोई जीव का वश नहीं रहा। ईश्वर की मर्जी हो तब तक मुक्त बनाए रहे और जब मर्जी हो तब ढकेल दे। ईश्वर खेला करता है। इस प्रकार उपादान स्वयं की परिणति से विकार रूप न परिणमे; निमित्त ही परिणमाये तो वहाँ पर भी मुक्ति का अवसर नहीं है, वह चाहेगा तो हो जायेगी, अथवा इस दृष्टि में जब मैं हो स्वयं मुक्तिरूप नहीं परिणमूँ, कैवल्यरूप नहीं होऊँ, तब वहाँ हुआ क्या? ऐसी दृष्टि में अपना कुछ हित ही, सत्त्व ही उसमें नहीं मिला, एक बात।

स्वभाव से विकार हुआ मानने पर मोक्षमार्ग का अभाव—दूसरी बात यदि यह कहा जाये कि उपादान स्वयं परिणमता जाता है, उसमें पर्याय सब बंधी हुई हैं। अपने नम्बर पर अपनी-अपनी पर्याय को ग्रहण करता जाता है। निमित्त शब्द तो पहिले से लिखा चला आ रहा है इससे बोलना पड़ता है कि उस पर आगेप किया जाता है—तो ऐसी स्थिति में मुक्ति का मार्ग नहीं मिलता, क्योंकि जीव में तो पर्यायें बंधी हुई होती हैं। उनके नम्बर पर उसमें यह विकार करना इतना ही काम है सो कर रहे हैं। वहाँ यह दृष्टि नहीं जगी कि विकार मैं नहीं करता। विकार मेरा स्वभाव नहीं है। मेरे अंतःस्वरूप में से विकाररूप परिणमन का भंवर नहीं उठता है किन्तु ऐसा यह परिणम सकता है। इसमें वैभाविकी शक्ति है, पर-उपाधि का सन्त्रिधान होने पर ऐसा परिणमन बनता है। यह यदि दृष्टि में न रहा, स्वरसतः परिणमता चला जाता है तो ऐसी दृष्टि में अस्वभाव कुछ नहीं रहा। तब मुक्ति भी कुछ नहीं है और हो तो धोखा ही रहेगा।

विकार की परभाव की सिद्धि में क्लेश—उक्त दृष्टि में पर-भाव सिद्ध करने के लिए निमित्त को माना भी जाये तो वहाँ निमित्त का वही दर्जा आ पाता है जो आश्रयभूत का स्वरूप होता है। तभी तो उस एकांत दृष्टि में यह देखा जाता है कि यह जीव अपने से च्युत होकर निमित्त में जुड़े तो निमित्त होता है। अरे निमित्त को किसी ने आँखों देखा भी है कि यह उसका कर्म है, यह उदय में आ रहा है, मैं इसमें जुड़ जाऊँ, ऐसा तो किसी को विदित नहीं है। किन्तु उदय होने पर विकार हो जाता है। आग का हमें पता हो अथवा न हो,

वहाँ हाथ पड़े तो वह जल जाता है हमें निमित्त रूप कर्मों का कहाँ पता है । हम आगम से और युक्ति से कुछ जानने लगते हैं । तो हम से अच्छे वे लोग हुए जो कर्मों को जानते ही नहीं हैं । जब उन्हें पता ही नहीं हैं कि ये कर्म हैं तो वे जुँड़ेगे कैसे! वे तो बड़े सुख में रहेंगे । सो ऐसा तो नहीं है ।

विकार्य उपादान की योग्यता—विकार्य जीव उपाधि की सत्रिधि में विकाररूप परिणमता है तो वहाँ निमित्त होकर भी यह उपादान अपनी परिणति से परिणमता है । अर्थात् निमित्त की उपयोगिता यह है कि विकार के उदय के लिये उपादान में ऐसी बात पड़ी है, कला है, योग्यता है कि वह योग्य अनेक विकारों रूप परिणम सकने वाला तो है । अब वह उस सीमा में जैसे सत्रिधान का निमित्त पायेगा उस रूप वह विकाररूप परिणम जायेगा, पर निमित्त ने अपने प्रदेश से उठकर इस उपादान में कुछ क्रिया नहीं की यह बात बिल्कुल स्पष्ट दिखती है ।

परिणमन स्वातन्त्र्य पर दर्पण का दृष्टान्त—जैसे दर्पण है, उस दर्पण के सामने मान लो एक पीछी रंग बिरंगी कर दी तो दर्पण उस छायारूप परिणम गया, अथवा पीछी तो सामने नहीं थीं, वह केवल धरी थी और यह दर्पण सामने रखा है या रख दिया है तो दर्पण में भी रंग बिरंगा परिणमन हो गया । अब यह देखो कि रंग बिरंगे परिणमन रूप क्रिया में पिछी ने कुछ कला नहीं खेली बल्कि दर्पण ने अपनी ही योग्यता के कारण पिछी का निमित्त पाकर अपने आपमें इस प्रकार के छाया रूप से परिणमने की कला बनायी । यहाँ वस्तु के स्वरूप चतुष्टय का विधात न हो इसका सदैव ध्यान रखना है और फिर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को पहिचानना है ।

निमित्त की उपयोगिता—तो जैसे यह दर्पण अपनी योग्यता के कारण पिछी का निमित्त पाकर, सत्रिधान पाकर अपनी ही कला से चूंकि उस तरह का परिणमन कर सकने की कला पड़ी है ना, जो भीत वगैरह में नहीं पड़ी है सो उसकी कला से पर-उपाधि के सत्रिधान को पाकर यह दर्पण खुद छायारूप परिणम गया । इसी प्रकार प्रत्येक उपादान जो विकाररूप परिणम सकने की योग्यता रखता है वह अनेक निमित्तों को पाकर स्वयं अकेले अपनी ही परिणति से उस विकाररूप परिणम जाता है । यह उपादान की कला है, और वह उपादान इस विकाररूप पर निमित्त का सत्रिधान पाये बिना परिणमा नहीं इसलिये निमित्त की सत्रिधि की उपयोगिता हो गई । निमित्त की कोई परिणति उस दर्पण में घुसी हो तो यह नहीं होता ।

सात्रिध्य में भी परिणमनस्वातन्त्र्य—जैसे हम अपना मुख दर्पण में देखते हैं तो दर्पण जो छायारूप परिणम गया सो दर्पण अपनी कला से परिणम गया पर ऐसा उसका परिणमना मुख की सत्रिधि बिना नहीं हुआ । उस दर्पण को कुछ अटकी भी नहीं है कि मैं मुख की छायारूप परिणम जाऊँ पर सहज जैसा निमित्त का मेल होता वैसा ही यह उपादान अपनी कला से परिणम जाता । तो यह तो एक निकट की चर्चा है पर दुनिया तो आश्रयभूत पदार्थों में ही उलझी हुई है । आश्रयभूत पदार्थों को निमित्त मानकर फिर उसमें जोर दें यह बहुत नीचे स्टेज की कला का ज्ञान है ।

कार्य का आश्रयभूत पदार्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक का अभाव—कोई जीव किसी दूसरे जीव को सुख

अथवा दुःख उत्पन्न नहीं करता । दूसरे के सुख दुःख में निमित्त भी नहीं होता है निमित्त वहाँ कर्मोदय है । इतने पर भी पर जीव के सुख दुःख जीवन मरण का अपने को कर्ता मानना यह ध्रुव अज्ञान है । निमित्त के ही साथ तो कार्य का अन्वय व्यतिरेक होता है पर कार्य के साथ-साथ आश्रय का अन्वय व्यतिरेक नहीं होता है । जैसे सुन्दर फोटो लगी है । एक साधु उसको देखकर विकार को नहीं प्राप्त होता है और एक अज्ञानी मोही उसको देखकर विकार भाव करता है तो यह फोटो विकार का निमित्त नहीं है । विकार निमित्त होता तो जैसे उस मोही ने विकार भाव किया वैसा ही विकार भाव उस साधु को भी करना चाहिए था । पर ऐसा नहीं हुआ ।

कार्य का निमित्त के साथ अन्वय व्यतिरेक—वे जो दोनों जीव हैं—मोही और ज्ञानी उनके साथ उनके ढंग के कामों का सत्त्व पड़ा हुआ है । मोही में मोही के ढंग का सत्त्व है, और ज्ञानी में ज्ञानी के ढंग का सत्त्व है । ज्ञानी उपेक्षा रूप परिणम रहा है और वह मोही अन्य कल्पनाओं रूप परिणम रहा है । देखो अज्ञानी जीव ऐसे फोटो को देखकर कैसा व्यर्थ में अपना परिणाम बिगाड़ रहा है? कुछ भी कल्पना जो अज्ञानी में उठी वह उसके कर्मोदय का निमित्त पाकर परिणमन में निमित्त है, पर जिस प्रकार का अज्ञानी का कर्मोदय है उसके ही लायक नोकर्म बन गया ।

आश्रयभूत की अनियामकता—जैसे किसी दुकान पर बैठे-बैठे ही आप छाता भूल गए और चल दिये । मार्ग में दूसरे का छाता लगा हुआ दिख गया तो उस छाते को देखकर आपको अपने छाते का ख्याल आ गया तो यह बतलावों कि उस छाते ने आपमें क्या पैदा किया? वह तो अपनी जगह से रंच भी नहीं उठा । क्या उस छाते की कोई किरण आपमें घुस गई? क्या किया उस छाते ने, सो बतलाओ वह छाता तो अपनी ही जगह पर रखा हुआ है कुछ भी तो बात उससे नहीं आई, लेकिन उसको देखकर जो ख्याल बन गया उस ख्याल बनने का अंतरङ्ग में जो उदय है वह तो है निमित्त और छाते का दिख जाना है वह आश्रयभूत । क्या छाते का यह काम है कि हर एक में जिसका छाता गुम जाये उसके अन्दर चोट लगाये? क्या यह कोई उस छाते का काम है? वह तो जो जिसमें उपादान है, जो जिसमें जैसा परिणाम है वह उस योग्यता के अनुकूल अपना काम कर देता है । वहाँ अन्य पदार्थ आश्रयभूत हो गया ।

वस्तु स्वातन्त्र्य की दृष्टि का आदर—मैया! वस्तु स्वातन्त्र्य की उपेक्षा करके निमित्त दृष्टि करना योग्य नहीं है । जान लो ठीक है, अपने जीवन का लक्ष्य बनाओ ज्ञान करने के लिये । मैं उस विवित आत्म तत्त्व को निरखूँ यह काम है अपने करने का । उसका तो ज्ञान करने के लिये है । हाँ, उस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का विरोध करने से हानि यह है कि विकार को स्वभाव जैसा मान बैठे तो जीव को यह उत्साह न जगेगा कि मैं प्रभु जैसा शूर हूँ किन्तु विकार में ही रमेगा, इसलिए निमित्त सम्बन्ध का ज्ञान तो कर लिया करो, मगर सब प्रयत्न करके स्वभाव दृष्टि में उतरो जहाँ तक बने—यही अपना काम है ।

अज्ञान में चिकिर्षा व आत्महनन—जो जीव दूसरे जीव से जीव का मरण जीवन सुख दुःख होना देखता है वह जीव अज्ञानी है और इस अज्ञान परिणाम को रखकर अहंकार के रस से गर्वित होता हुआ इस

कार्य को करने की इच्छा करता है। जिसे यह अज्ञान लगा है कि मैं दूसरे को दुःखी करता हूँ तो वह दुःखी करने की इच्छा करता रहेगा। ये सुख दुःख के कर्तृत्व भाव मोह क्षोभ को उत्पन्न करने वाले हैं। मरण जीवन मैं दूसरे का करता हूँ ऐसा परिणाम रखूँगा तो जिस पर राग है उसको मैं पालने का यत्न करूँगा, इच्छा करूँगा, श्रम करूँगा। जिससे द्वेष है उसको मारने का यत्न करूँगा, श्रम करूँगा, इच्छा करूँगा। तो उस प्रकार चिकिर्षक होकर वह मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपका ही घात करता है। अज्ञान परिणाम किया तो किसी दूसरे का घात नहीं किया, अपना ही वह निरन्तर घात करता रहता है। यह आत्मा आत्मवधकारी है वस्तु के स्वरूप के अनुसार अपनी दृष्टि बनाए सो तो अपने आपकी रक्षा है और स्वरूप के विपरीत पर-बुद्धि बनाना कर्तृत्व बुद्धि बनाना यह आत्मघात है।

निज चैतन्य स्वभाव की रुचि से मोक्ष मात्र का निर्णय—भैया ! एक बात और अपने हित के लिए ध्यान में रखो कि दो प्रकार के ज्ञान हैं—एक तो ऐसा कि अन्य पदार्थ का निमित्त पाकर अन्य में विकार हुआ यह चीज गलत नहीं है, सही है और यह भी सही है कि उस दशा में भी प्रत्येक पदार्थ केवल अपने आपका परिणमन करता है। कोई पदार्थ किसी दूसरे का परिणमन नहीं करता है, यह भी सही है क्यों जी, सही है ना? ये दोनों ही बातें सही हैं। ऐसा जानकर फिर पर द्रव्य और परभाव से भिन्न निज चैतन्य स्वभाव की भावना होती है तो समझो कि हम को धर्म में रुचि जगी है और मोक्ष मार्ग में बढ़ने लायक भवितव्य हुआ है और निमित्तों को देखने की ही रुचि रहे, देखो हमने इसका कुछ किया ना, यह हमने ही तो किया, यदि ऐसी भावना रही तो समझो कि अभी हमारी निज की अरुचि है तथा मोक्ष मार्ग में बढ़ने लायक पात्रता अभी नहीं है।

उपदेश का प्रयोजन—अन्तरङ्ग में आपकी रुचि किस ओर है ? वस्तु की स्वतन्त्रता देखने की रुचि है या द्वन्द्व और सम्बन्ध के देखने बोलने की रुचि है। इनमें से आपकी जैसी रुचि है। इनमें से आपकी जैसी रुचि होगी वैसी सृष्टि बनेगी। मोक्षमार्ग की सृष्टि या संसार की सृष्टि, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध के उपदेश का भी प्रयोजन आचार्यों का स्वतन्त्र अखंड स्वरूप के दर्शन कराने का है। बाह्य वस्तुओं में उपयोग कराने का आचार्यों का उपदेश नहीं होता। आचार्यों का उपदेश परवस्तुओं से दृष्टि छुड़ाकर केवल एक निज आत्मा की दृष्टि करने के लिए है। जो जीव श्रद्धा में ही यह रखे हों कि मैं दूसरे का जीवन मरण, सुख, दुःख किया करता हूँ, तो वह तो अज्ञान है, और इस अज्ञान भाव के कारण निरन्तर परवस्तु में कुछ न कुछ करने के लिए कमर कसे रहता है! कर कुछ नहीं सकता है, मगर अपना शौक और इच्छा पर मैं कुछ करने के लिए बढ़ाये रहता है। ऐसी स्थिति में यह जीव आत्मवधकारी है, अपने आपका घात करने वाला है। इसी को स्पष्ट करने के लिए पुनरपि दो गाथायें कह रहे हैं।

निष्कर्ष—हम अपने आपका ही परिणमन कर सकते हैं किसी अन्य का नहीं ऐसा जानकर अपने स्वभाव का अवलम्बन करके अपने आपको अनाकुल व पवित्र रखना ॥२५४-२५६॥

गाथा २५७-२५८

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सब्बो ।
 तम्हा हु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
 जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
 तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब कर्मादय से होता है इसलिए जो यह अभिप्राय है मैंने मारा, मैंने दुःखी किया, यह अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? मिथ्या है। यहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव सम्बन्ध बता रहे हैं। कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव दुखी होता है, और ऐसी स्थिति में क्या यह बात नहीं है कि कर्मों का जो परिणमन है वह कर्मों में हो रहा है, कर्मों का जीव में कुछ नहीं गया, जीव का कर्मों में कुछ नहीं गया। ये दो साथ में बातें हैं, तो दोनों का ज्ञान करके दोनों को सही जान करके हमारी रुचि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखने के लिए जगती या परपदार्थों की उस उसके परिणमन को देखते रहने में रहती है? हमारी रुचि स्वतन्त्रता की होनी चाहिये। ज्ञान के लिए सर्व ज्ञान करना।

कैवल्य की प्राप्ति के लिए केवल का ज्ञान आवश्यक—भैया! जब हमें केवल बनना है; खालिस बनना है, शुद्ध बनना है तो हम अब भी खालिस की केवल श्रद्धा न करें, रुचि न करें और ऐसी दृष्टि रखने का यत्न न करें तो केवली होना कैसे सम्भव होगा? जहाँ जीव परजीवों को अपने सुख दुःख का कारण मानकर भयभीत और कायर होते हैं और अपने आपको दूसरे के सुख दुःख का कर्ता मानकर अहंकार रस में डूबा करते हैं। उस अहंकार भाव को और उस कायरता के परिणाम को मिटाने के लिए यह प्रकरण चल रहा है कि तू इनका निमित्त नहीं है, इनके निमित्त कर्मों के उदय हैं। तू खुद अपने आपमें इन परजीवों के सुख दुःख जन्म मरण का निमित्त मानकर अहंकार में डूब रहा है कि मैंने यों किया अमुक में। अपने कर्तव्य का अहंकार दूर कर अपने को केवल देखने का यत्न करो।

कर्तृत्व के आशय में ध्यान का **अलाभ**—इसी प्रकार यह भी यहाँ देखो जो नहीं मरता है, नहीं दुखी होता है वह उसके उस प्रकार के कर्मादय से होता है। इसलिए तेरा यह अभिप्राय कि मेरे द्वारा मारा नहीं गया और न दुःखी किया गया, ऐसा भी अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? अर्थात् मैंने मारा, जिलाया, दुःखी किया, सुखी किया यह भी मिथ्यात्व का परिणाम है और दूसरे के द्वारा मैं मारा गया, जिलाया गया दुःखी किया गया, सुखी किया गया, यह भी मिथ्यात्व का परिणाम है। मैंने नहीं मारा, मैंने नहीं दुःखी किया, यह कर्तव्य के आशय से किया गया निषेध भी मिथ्या परिणाम है तो यह दूसरे जीव को दुःखी तो कर सकता नहीं, न मरण कर सकता, किन्तु केवल अपध्यान ही करता है। जैसे पड़ोसियों में जब लड़ाई हो जाती है तो एक पड़ोसी दूसरे को कुछ कर तो सकता नहीं। अपने ही घर में बैठा हुआ अपध्यान करता रहता है—इसका यों हो जाये, नाश हो जाये, अमुक हो जाये। तो वह केवल अपने अपध्यान का करने वाला है; किन्तु इस

दूसरे पदार्थ में उसने कुछ परिणमन किया नहीं ।

किसी के विचार के कारण पर के परिणमन का अभाव—क्या किसी का नाश सोचने से दूसरे का नाश हो जाता है? क्या किसी का भला सोचने से भला हो जाता है? हाँ यह बात अवश्य है कि भला सोचने के भाव के निमित्त से पुण्य कर्म का बंध होता है और बुरा करने के भाव के निमित्त से पाप कर्म का बंध होता है, पर भला सोचने से दूसरे का भला हो जाये, यह नहीं होता । हो भी जाये तो यह होना ही था जिस समय यह भला सोच रहा था उसी समय उसका भला होने को था, पर इसके भला सोचने रूप किया के निमित्त से दूसरे में भला परिणमन हो जाये यह बात नहीं होती । इसी तरह कोई किसी का बुरा सोच रहा हो और उसी काल बुरा हो जाये तो हो गया ऐसा दोनों जगह परिणमन होने को था, पर इसने बुरा सोचा इस कारण से उसका बुरा हुआ यह बात सही नहीं है ।

अपध्यान में आत्म विकास का अभाव—परमार्थतः तो ये सब पर के कर्तृत्व के विचार अपध्यान कहलाते हैं । अज्ञान भाव में तो अपध्यान चलता ही रहता है क्योंकि कुछ भी सोचे यह कर्तव्य अंश को लिए हुए सोचेगा और दूसरे को भला करने का जो अहंकार है और वस्तु की स्वतन्त्रता का विघात करके मैं कुछ कर दूंगा, ऐसे कर्तृत्व का जो आशय है वह अपने आपका निरन्तर घात ही कर रहा है । अपने शुद्ध विकास को उठने नहीं देता विकास नहीं होने देता अपनी प्रभुता को कुन्द बनाए रहता है जो ऐसा देखता है वह मिथ्यादृष्टि जीव है । मिथ्यादृष्टि जीव के यह अध्यवसाय बंध का कारण होता है क्योंकि उसे विपर्यास हो गया । खबर ही नहीं है । जब अपना स्मरण ही नहीं, शुद्ध बोध ही नहीं है तब यह अपने आपका विकास क्या करें?

लोक विद्या का श्रम परमार्थ विकास का अकारण—भैया ! आत्मा का विकास तो यह है कि ज्ञान बड़े और आनन्द बड़े, जीव का विकास और क्या कहलाता है ज्ञान बड़े और आनन्द बड़े, जीव का ज्ञान कब बढ़ेगा और आनन्द कब बढ़ेगा इतना आप निर्णय कर लीजिए । लौकिक विद्याओं के पढ़ने से लिखने से स्कूली शिक्षा से मास्टर से पढ़ने से देखा जाता है कि विद्या आती है, किन्तु भीतर में विद्या की यदि लब्धि है क्षयोपशम पड़ा हुआ है तो थोड़े बाहरी पदार्थ भी उसके आश्रयभूत हो जाते हैं पर बाहरी आश्रय से ज्ञान का विकास नहीं होता । वह तो एक अर्जित निधि थी जो अपने आपमें पड़ी हुई है उस अर्जित निधि को बाहर लाने का एक उपशम हुआ है तो इस बाहरी उपाय से ज्ञान तो हुआ मगर वह इसलिए सीमा के भीतर ही हो सका कि इन बाहरी आश्रयों का ऐसा प्रताप नहीं है कि ज्ञान एकदम विकसित हो जाये । जो भी ज्ञान विकसित हुआ है वह अर्जित निधान है पूर्व काल में धर्मदृष्टि रही उस उत्तम बात के कारण यह क्षयोपशम बना तो यह अर्जित निधि है । इस कारण इस सीमा का तोड़कर विकास नहीं हो पाया ।

स्व की उन्मुखता परमार्थ विकास का कारण—भैया ! सारे विकल्पों को छोड़कर अपने आपमें जैसा स्वभाव है उस सहज स्वभाव की दृष्टि करें तो इसका ज्ञान इतना असीम विकसित होगा कि जिसके प्रताप से जो भी सत है सर्व का ज्ञान होगा, पर ऐसी बात सुनते सोचते हुए मैं विश्व का ज्ञान हो जायेगा!, ऐसी अगर

उत्सुकता की दृष्टि लक्ष्य में हो तो उसने अपने आपका आश्रय नहीं किया । उसके ज्ञान नहीं जगता । यह संसार अथवा इस संसार की समस्त बातें ऐसी हैं कि चाहो तब होती नहीं, होती हैं तब चाहते नहीं । सर्वज्ञ होने की कोई चाह करे, यत्न करे तो क्या हो जायेगा? और जो सर्वज्ञ होगा वह चाह नहीं करता और उससे भी पहिले उसकी चाह नहीं रहती ।

सुख कहाँ ?—भैया ! इस संसार में सुख है कहाँ? जब चाहो तब चीज नहीं, जब चीज है तब चाह नहीं तब आनन्द कहा रहा? ये कविजन विद्वज्जन और कला कौशल वाले अनेक पुरुष, विद्यावान् अथवा धनिक कोई भी हों, प्रारम्भ अवस्था में प्रायः इनको यश की और नाम की वाञ्छा रहती है । और बुढ़ापा आया कि कलाएँ प्रगट हो गयी, गम्भीरता आ गयी । लो, अब यश और नाम की चाह भी नहीं रही, ऐसी स्थिति में यश भी बड़े, नाम भी बड़े तो उनका अब यह करे क्या? जब-जब चाह थी तब मिला नहीं, जब मिला तब चाह नहीं रही तो कौन किस बात में सुखी हो सकता है? यहाँ तो सुख का नाम ही नहीं है । सुख तो मात्र एक आत्मीय अनुभव में है ।

सुख का एकमात्र उपाय—भैया ! सुख का उपाय दूसरा नहीं है । पक्का निर्णय रखो कि किसी भी पर की दृष्टि करके मूढ़ता कर रहे हैं । किसी भी पर से सहारा लेने का आशय बनाना यह तो बहुत बड़ी मूर्खता है । कौन-सा कार्य व्यवहार का ऐसा है जो आपके लिए हितकारी हुआ करे? ऐसा तो कोई भी कार्य नहीं दिखता सिवाय इसके कि यह ज्ञानमय स्वरूप को जानता है । केवल एक इस यत्न के अतिरिक्त कोई यत्न ऐसा बाहर में नहीं है जो इस जीव को सत्य हो, सहकारी हो, हितकारी हो । तो हम व्यवहार में अच्छा रूप देते हैं पूजा का, भक्ति का, सत्संग का उन सबका प्रयोजन यहीं एक है । एक इस प्रयोजन को निकाल दें और करते रहें पूजा भी भक्ति भी सत्संग भी तो ये सब नीरस हो जायेंगे । ये शांति रस के हेतु नहीं बन सकते ।

मूल पुरुषार्थ—अपना मूल प्रयोजन और मूल पुरुषार्थ यही है कि यह आत्मा जो अपने उपयोग को चारों ओर भटका रहा है, दौड़ा रहा है वह भटक, वह उपयोग हमारा समाप्त हो जाये । इसीलिए हम आप सबको कई बार यह कह देते हैं कि ज्ञान करने को तो सब ज्ञान कर लो पर रुचि अपने वस्तु के स्वतन्त्र स्वरूप को देखने की लगाओ । चीज है, ऐसा जान लो ये सारे नैमित्तिक विभाव हैं, औपाधिक चीजें हैं, पर की उपाधि का निमित्त पाकर होने वाली बात है पर हम कुछ आगे बढ़ें तो कैसे बढ़ें? जिसे कहते हैं आत्म विकास शुद्ध आनन्द अनुभव, स्वसम्बेदन का होना, निराकुल अवस्था होना, इसके लिए केवल एक निज को देखो और केवल एक निज को देखने की बात इसमें तब बनेगी जब हमारी आदत परपदार्थों को उनके स्वरूप में देखने की बन जाये तो अपने आपको केवल देखने की एक वृत्ति बना सकते हैं । इसलिए ज्ञान करने को तो सब प्रकार का ज्ञान करना चाहिये किन्तु रुचि होना चाहिए परद्रव्यों से भिन्न स्व के एकत्व में निश्चित निज आत्मा में ।

वस्तु स्वातन्त्र्य के दर्शन का अभ्यास—पर द्रव्यों से भिन्न अपने आत्म-द्रव्य में रुचि उसकी हो सकती

है जिसको सभी पदार्थों में अन्य-अन्य सम्बन्धों में भी उन पदार्थों को अन्य सबसे भिन्न केवल उनके अपने आपके स्वरूप में एकत्र रूप से देखने की प्रकृति बन जाये, और ऐसे वस्तु स्वतन्त्रता की दृष्टि के अभ्यासी पुरुष को पहिले तो यह सारा जगत एक मत्त जैसा अथवा नहीं कर रहा और फिर भी न जाने किसी को दिखाने को कुछ बनावट दिखावट क्या कर रहा, ऐसी दूसरे की परिणति होती है ।

अनुभव के अनुकूल बाह्य में दर्शन—जैसे कोई मनुष्य बड़ा दुःखी है, इसका प्रयोग हो जाये तो चूँकि उसके उपयोग में वही इष्ट है ना, तो वही भरा हुआ है । अब आखों से जब बाहर में देखेगा तो चाहे कोई बड़े हर्ष से, सुख से खिलखिला भी रहा हो तो भी उसकी वृत्ति उसे ऐसी नीरस दिखेगी कि है नहीं अन्तर में सुखी; जबरदस्ती हो-हल्ला कर रहा है । जैसे अपने आपमें अपने आपको देखने की स्थिति होती है उसके अनुरूप उसे बाहर में अन्य-अन्य भी वैसा ही दिखता है । जैसे आप सुखी हैं, बड़े प्रमोद में हैं, अनेक काम आपके सिद्ध हुये हैं, तो आपको सब जगह सुख का सा वातावरण दिखेगा, और कदाचित् कोई रोता हुआ आप देखेंगे तो भी आप यह अच्छी प्रकार न जान पायेंगे कि इसके अन्तर में पीड़ा है । और ऐसी पीड़ा है कि जिस पीड़ा से अत्यन्त आक्रन्दन कर रहा है किन्तु कुछ ऐसा ही प्रतीत होगा, रोता है, अथवा कुछ दिखाने को रोना पड़ता है । जैसी अपनी अन्तर में दृष्टि होती है । उसके अनुरूप यथा सम्भव जहाँ तक खिंच सकता है, बाहर भी वैसा ही दिखा करता है ।

स्वरूप दर्शनाभ्यस्त का बाह्य अवलोकन—तो जिसको अपने स्वभाव के देखने का अभ्यास दृढ़ हो गया है उसे पहिले तो यह सारा जगत मत्त जैसा कुछ न करता हुआ भी जैसा दीखता है । क्या कर रहा है? क्या तो स्वरूप है, कैसी विपरीतता है, उन्मत्तता है? इसी तरह का दिखता है, पश्चात् उसे सब स्तब्ध दीखता है । यह अभ्यास की बात है, इसी तरह यद्यपि बाहर में सब कुछ है, निमित्त नैमित्तिक भाव है, सर्व कुछ है और सर्व कुछ जैसा है, वैसा कहें भी, बतायें भी, इतने पर भी रुचि रहना चाहिए प्रत्येक वस्तु के निज स्वरूप चतुष्टय को निरखने की ।

वस्तु स्वातन्त्र्य की प्रतीति की रक्षा—कुछ ऐसी ही बात हो जाती है कि कोई दूसरा यदि वस्तु की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का निषेध करता है तो उसके मुकाबले अथवा उसको खण्डन करने की दृष्टि से **अधिकार** उपयोग एक मण्डन पर रहता है, पर अपने आपको मोक्षमार्ग में ले जाना है, अपने को सुरक्षित रखना है, इस विनश्वर नर-जीवन से कुछ लाभ उठाना है ऐसे पाये हुये श्रेष्ठ धर्म समागम से कुछ स्थिर लाभ लेना है तो इतनी रुचि जगना चाहिये वस्तु के उस स्वचतुष्टय को स्वतन्त्र स्वरूप को निहारने की कि उसकी प्रतीति न मिट जाये ।

अपने में ज्ञानमयता की निरख—कोई जीव अपने आपमें और पर पदार्थों में सब प्रकार का ज्ञान करते हुए भी जो कैवल्य को निहारता है, प्रत्येक पदार्थ में कैवल्य को देखने की रुचि करता है उसकी जो वृत्ति है वह बंधन का कारण नहीं बनती है । मिथ्यादृष्टि जीव के जो यह अध्यवसाय है कि मैं दूसरों को सुखी दुःखी करता है, जिलाता मारता हूँ कहते हैं कि वह मिथ्या आशय है और अज्ञान रूप है, बंध का कारण है, ऐसा

जानकर यथावत् निर्णय करके कि दूसरे के निमित्त में निमित्त कारण कर्म है, हम आप नहीं हैं। ऐसा जानकर कर्तृत्व का अहंकार, भयभीतता और कायरता को त्याग करके अपने ज्ञानमय स्वरूप की दृष्टि रखकर उसका आनन्द पायें।

गाथा २५९

एसा दु जा मदी दे दुक्खिद सुहिदे करेमि सत्ते त्ति ।

एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२५९॥

अध्यवसाय की बन्ध हेतुतता—हे आत्मा ! तेरी जो यह बुद्धि है कि मैं जीव को सुखी और दुःखी करता हूँ सो यह तेरी मूढ़ बुद्धि ही है। ऐसी तेरी मूढ़ बुद्धि शुभ अशुभ कार्यों को बाधती है। दूसरे जीवों को सुखी करने के आशय से कहीं दूसरा सुखी नहीं हो जाता, किन्तु सुखी और दुःखी करने के आशय से पुण्य अथवा पाप का बंध हो जाता है।

कर्म की वस्तुरूपता—कर्म कोई अलंकारक चीज नहीं है कि वस्तु का कुछ मैटर न हो और केवल जीव जो कुछ करता है उस परिणाम को समझने के लिए कोई कर्म बंध या कर्मादय रूप से अलंकार हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु कार्मण वर्गणानामक पुद्गल स्कन्ध हैं सूक्ष्म हैं, सर्वत्र भरे हैं, इस जीव के साथ ही लगे हुये हैं वे कार्मण वर्गणाएं जब जोव के विभाव की सैन या उदयागत कर्मों का निमित्त पाले हैं तो वे कार्मण वर्गणायें स्वयं कर्मरूप परिणम जाती हैं। यदि ये कर्म अलंकार मात्र होते तो इसका उत्तर दो कि आगम में जो स्पष्ट कहा गया है कि कार्मण वर्गणायें होती हैं और उनका रूप सफेद होता है। कार्मण वर्गणाओं का रंग श्वेत है और जब यह जीव मरकर दूसरे भव में जाता है तो जब तक रास्ते में रहता है याने विग्रह गति में रहता है तब तक तो उसका श्वेत वर्ण रहता है और जब स्थान पर पहुंच जाता है तो कापोत अर्थात् चितकबरा रंग हो जाता है। फिर इसका ही कुछ समय बाद जिसे कहते हैं गर्भ में आ चुका पूरा संभल चुका तब जैसा भी वर्ण हो वैसा वर्ण हो जाता है। तीन स्थितियाँ हैं कर्म की, देह के रंग की—(१) रास्ते की, (२) अपर्याप्त अवस्था की और (३) पर्याप्त अवस्था की।

कर्म की वस्तुरूपता का समर्थन—इतना विशद वर्णन न होता यदि कर्म अलंकार मात्र होता, देखो कर्म समूह को केवली जानता है वह अवधिज्ञानी पुरुष भी जानता है। अवधिज्ञानियों में जो ऊँचे अवधिज्ञानी होते हैं वे कार्मण वर्गणाओं को अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष जानते हैं। इन कार्मण वर्गणाओं का रूप निश्चित है स्पष्ट बताया भी है, और जब ये बंधते हैं उस समय इन कर्मों में प्रकृति पड़ जाती है कि इतने परमाणु जीव को ज्ञान के घात के निमित्त होंगे, इतने सुख के निमित्त होंगे ऐसी उनमें प्रकृति भी पड़ जाती है, उनमें स्थिति भी पड़ जाती है कि जिसमें बंधे हुये कर्म इतने दिन तक जीव के साथ रहेंगे छोड़ेंगे नहीं, ऐसी स्थिति भी पड़ जाती है अनुभाग भी उनमें पड़ जाता है। ये कर्म इतने दर्जे का सुख या दुःख देने के निमित्त होंगे। उनमें प्रदेश बँटवारा भी हो जाता है आज के समय में बाँधे हुए कर्म आबाधा काल तक तो उदय में न आयेंगे और

उसके बाद प्रत्येक समय में पहिले समय में इतने निषेक आयेंगे, दूसरे समय में इतने आयेंगे ऐसा प्रदेशों का बँटवारा भी हो जाता है। इतना कथन जिसके बारे में कहा गया हो और यह तो मोटी बात बताई है जिनकी इससे भी सूक्ष्म समय-समय की स्थितियों की चर्चा जिन कर्मों के बारे में बताई गई हो वे कर्म अलंकार रूप नहीं हो सकते।

निमित्त वर्णन की स्वभाव परिचय प्रयोजकता—निमित्त का वर्णन निमित्त की रुचि के लिए नहीं होता, किन्तु निमित्त बताकर नैमित्तिक कार्य की सिद्धि जिसमें की जा रही है उस वस्तु का वह नैमित्तिक कार्य स्वभाव नहीं है, वस्तु स्वभाव उससे परे है इस तथ्य की दृढ़ता लाने के लिये निमित्त का वर्णन किया जाता है। ज्ञानी पुरुष की रुचि परभाव से भिन्न निज अन्तस्तत्व में होती हैं। विभावभाव निमित्त सन्निधान बिना अर्थात् निमित्त पाये बिना हुए हैं ऐसी समझ अहित करने वाली है, क्योंकि यह समझ मिथ्याज्ञान है। हाँ विभावभाव निमित्त की परिणति लिये बिना हुए हैं, क्योंकि विभावभाव अपने आपके जीव की परिणति है, निमित्त की परिणति नहीं, यह अर्थ माना जाये विभावभाव निमित्त बिना होते हैं इस वाक्य को तो यों कहने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु जिन शब्द प्रयोगों से श्रोता को सुगम, असंदिग्ध, स्पष्ट बोध हो ऐसे ही शब्द प्रयोग निर्माय पुरुषों के द्वारा किये जाते हैं। यद्यपि कर्म के उदय को निमित्तमात्र पाकर जीव में रागद्वेष भाव होते हैं तथा जीव के रागद्वेष भावों को निमित्त मात्र करके कार्मण वर्गणायें कर्मरूप परिणत हो जाती हैं, तथापि कर्मों का यावत् परिणमन है वह कर्मों में ही होता है, जीव का यावत् परिणमन है वह जीव में ही होता है, कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव क्रोधी बन गया तो भी कर्मों ने क्रोधी नहीं किया, किन्तु कर्मों का निमित्त पाकर जीव स्वयं अपनी परिणति से क्रोधी बना। वस्तु की स्वतन्त्रता को दृष्टि से हटा दोगे तो कुछ भी हाथ न लगेगा। निमित्त का वर्णन वस्तु के स्वभाव की रक्षा कराने के लिए है, न कि वस्तु के स्वभाव को दृष्टि से ओझाल करने के लिए है।

अपनी संभाल—यहाँ बतला रहे हैं कि मैं दूसरे को सुखी करता हूँ, दुःखी करता हूँ ऐसा जो परिणाम है वह मूढ़ परिणाम है। इस परिणाम में यह जीव शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बंध करता है। करता दूसरे का कुछ नहीं है जीव, केवल अपना परिणाम करता है। एकत्व के परिज्ञान की बड़ी महिमा है। इस जीव ने अभी तक सब कुछ पुण्य और पाप का ज्ञान किया पर अपने आपके सहजसत्त्व के कारण कैसा स्वरूप है? इसकी दृष्टि और अनुभवन नहीं किया। किसी दूसरे के मुकाबले में जो कोई थोड़ा गलत हो तो उसके मुकाबले में डटकर आ जाने का परिणाम खुद के लिए तो भला नहीं होता। उसका कारण यह है कि फिर उसकी दृष्टि केवल एक ओर रह जाता है और स्वतन्त्रता से जो अपने विचार चल सकते हैं वे सब कुण्ठित हो जाते हैं। अतः कल्याणार्थी पुरुष, कहाँ क्या हो रहा है इस ओर दृष्टि न देकर स्वयं अपने कल्याण के लिए क्या योग्य है, उस तरह की दृष्टि रखे और उस तरह का ही सुनने, बोलने, व्यवहार चर्चा में रहे तो उसमें रहते हुए दूसरे का यदि भला होता है तो हो जायेगा स्वयं ही आपकी वृत्ति देख करके।

सत्य के आग्रह की ही कार्यकारिता—हम यदि किसी दूसरे को दुःखी करके रहें, किसी प्रकार का

अपने आपमें हठ करें तो उससे अपना मार्ग रुक जायेगा । हठ करें अपने आपके लिए । अपने को जो सत्पथ जंचे उसकी हठ करें । अपने आपकी हठ व्यक्त न होकर वह तो छिपी हुई अन्तर में हुआ करती है । तो हमें चाहिए सत्यपथ का हठ । अपने को सत्पथ पर कैसे ले जाना है, सत्पथ पर चलकर कैसी स्थिति को बनाना है? वह स्थिति और वह आत्मस्वरूप अपनी दृष्टि में न रहे तो हमने अपना हित क्या किया?

स्वतन्त्र निरखने के ज्ञान का बल—दूसरे जीवों का कुछ कर दूँगा, दूसरे जीव को मैं सुखी कर दूँगा यह परिणाम मिथ्या है अथवा सही है? यह परिणाम मिथ्या है और मैं दूसरे को मोक्ष पहुंचा दूँगा यह परिणाम भी मिथ्या है, मैं दूसरे को नरक पहुंचा दूँगा यह परिणाम मिथ्या है, मैं दूसरों को समझा दूँगा यह परिणाम भी मिथ्या है, मैं केवल अपने परिणमन को ही कर सकता हूँ, दूसरे के परिणमन को नहीं कर सकता हूँ । भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है इसका कारण उनके वचनयोग है, और चूँकि उस दिव्यध्वनि से भव्य जीव लाभ उठाते हैं तो भव्य जीवों का उसमें भाग है । उनका वचनयोग तो सीधा निमित्त है । पर उन श्रोताओं ने भगवान में कुछ कर नहीं दिया कि उनके कुछ कर देने से भगवान दिव्यध्वनि खिराने लगे । निमित्तनैमित्तिक भाव होते हुए भी हर जगह उन पदार्थों की स्वतन्त्रता को निरख सकें, यह बहुत बड़े ज्ञान बल का काम है ।

पर का पर में कर्तृत्व का अभाव—किसी समय चक्रवर्ती सभा में सुनने आ जाये और भगवान की दिव्यध्वनि खिरने का समय न हो, क्योंकि उनकी तो समय पर ही दिव्यध्वनि होती है और चक्रवर्ती जैसे कोई महाराज आ जायें तो असमय में भी दिव्यध्वनि होने लगती है । इतने पर भी चक्रवर्ती ने भगवान का कुछ नहीं किया, किन्तु ऐसा ही सहज मेल है, परिणमन होता है निमित्त पाकर । भगवान रागी नहीं है कि उनके मन में यह राग आ जाये कि चक्रवर्ती आये हैं और दिव्य ध्वनि खिराना चाहिये । तिस पर भी खिर जाती है । इसे कहते हैं निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध । एक पदार्थ ने दूसरे पदार्थ में कुछ नहीं किया । खूब निरख लो ।

वस्तु के स्वयं में वास्तविकता का दर्शन—औरों की तो बात जाने दो, सामने ही देखो इस घड़ी को हाथ से उठाकर यहाँ रखा, पक्का निमित्त नैमित्तिक है ना इतने पर भी हाथ में हाथ को देखो, घड़ी में घड़ी को देखो तो यह ध्यान में आयेगा कि हाथ ने तो अपने हाथ में काम किया, पर ऐसी स्थिति में चूँकि यह घड़ी थी सो अपना काम करते हुए हाथ का निमित्त पाकर घड़ी में बड़ी का काम हुआ । यह है स्वतन्त्रता का विश्लेषण । स्वतन्त्रता के विश्लेषण में निमित्तनैमित्तिक भाव का खण्डन नहीं हुआ । वह अपनी जगह है । स्वतन्त्रता की दृष्टि से जो बात समझ में आती है वह अपनी जगह है । सबके एकत्व का ज्ञान बड़ा दुर्लभ है । समयसार जी में ही तो सबसे पहिले यह बताया है कि एकत्व निश्चयगत जो आत्मतत्त्व है उसकी कथा असुलभ है । और काम-भोग बंध की कथा जीवों में बड़ी सुलभ है ।

उपदेशों का प्रयोजन ज्ञान स्वभाव की दृष्टि—भैया ! जितने भी उपदेश हैं सब उपदेशों का प्रयोजन है इस शुद्ध ज्ञान स्वभाव की दृष्टि करना, क्योंकि मुक्ति होती है तो इस स्वभाव के आश्रय से ही होती है । किसी परवस्तु या परभाव की ओर दृष्टि रखने से मुक्ति नहीं होती है, क्योंकि मुक्ति का अर्थ है छूटना । छूटना तब होता है जब अकेले रह जाये और अकेले रह जाने के लिए चूँकि यह चैतन्य ज्ञानमय है, सो ज्ञान

का ही प्रयोग कर सकता है। सो अपने ही ज्ञान में ज्ञान के ही द्वारा ज्ञानमात्र अकेला निरखे तो यह उपाय व्यर्थ नहीं जाता। यही मुक्ति का अमोघ उपाय है। तो जैसी श्रद्धा करोगे तैसी ही वृत्ति चलेगी। हम अपने स्वरूप को स्वतन्त्र समझ सकेंगे। अपने स्वरूप को हम अपने आपके कारण सत् समझ सकेंगे तो हमें इस केवल में रुचि होगी, इस केवल की दृष्टि होगी।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध के वर्णन में भी भय का अनवकाश—भेया! इस बात से घबड़ा कर कि कहीं आत्मा के स्वभाव की स्वतन्त्रता नष्ट न हो जाये, निमित्त को न मानें अथवा निमित्त को एक अलंकार रूप में ही शास्त्रों में कहा है, इस प्रकार की दृष्टि करके निमित्त को न समझाना, न समझना या उड़ा देना यह कोई बुद्धिमानी नहीं है, किन्तु यह जानना चाहिए कि निमित्त का वर्णन भी आचार्यों ने हमारी ही मंसा की पूर्ति के लिए किया है। हमारी मंसा है अपने शुद्ध स्वतन्त्र स्वभाव को निरखना। यही तो चाह है ना सभी कल्याणार्थियों की जो अपने केवल स्वभाव को नहीं देखना चाहता है वह तो कल्याणार्थी ही नहीं है। जहाँ यह वर्णन आता है कि ये सब सुख दुख, ये सब व्यवस्थाएं, ये रागद्वेष मोह सब विकार कर्मों के उदय के विपाक से प्रगट हैं। इतनी बात सुनकर तुरन्त यह ज्ञान होता है और उत्साह होता है कि यदि यह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक शुद्ध ज्ञायकस्वभाव मात्र हूँ।

दृष्टान्तरूप अनित्यभावना—जैसे अनित्यभावना हम आप खूब सुनते हैं—राजा राणा सब भरते हैं, क्षत्रपति, सेनापति सब मरते हैं, कोई यहाँ नहीं रह पाता है। सुनते जाइए, इससे क्या लाभ तब लाभ हुआ कहा जा सकता है जब यह दृष्टि रहे कि ये सब तो अनित्य हैं, पर मेरा वह चैतन्य स्वरूप ध्रुव नित्य है। अनित्य की बात सुनकर यदि अपने नित्य का ध्यान न आये तो उन अनित्य ; की बातों को सुनना किस्सा कहानी का सुनना जैसा है। उससे मोक्ष मार्ग न मिलेगा। और वह अनित्य भावना कहो कुछ घबड़ाहट उत्पन्न कर दे, धन वैभव मिट जायेगा, घर द्वार छूट जायेगा, सब परिजन छूट जायेंगे। इस तरह से वह अनित्य भावना कहो घबड़ाहट पैदा कर दे। तो क्या अनित्य भावना घबड़ाहट पैदा करने के लिए है? क्या इन सुखियों को दुःखी करने के लिए है, यह अनित्य भावना बतायी गयी है, कि ये भक्तजन दुःख में ही पड़े रहें, रोते रहें? रुलाने के लिए अनित्य भावना नहीं है अनित्य भावना का प्रयोजन यह है कि इस अनित्य जगत से रुचि हटाकर जरा अपने परमार्थ स्वरूप को तो देखें। अनित्य भावना देखने का प्रयोजन है निज नित्य पर दृष्टि पहुँचना। यह काम यदि न किया तो अनित्य ही कहने से लाभ नहीं हो गया बल्कि हानि कर ली, कर्तव्यविमूढ़ हो गया।

प्रकृत दृष्टान्त—इसी प्रकार निमित्त का वर्णन सुनकर निमित्त नैमित्तिक का सम्बन्ध ही देखकर तो कुछ भला होता नहीं। देखो हमने किया ना वह, हुआ ना ऐसा, ऐसा ही अपना रंग बनाये रहें तो उससे लाभ क्या लूटा? उस वर्णन से लाभ लूटा हुआ तब कहना चाहिए जब यह बात आपमें उत्साह जगाये कि ओह ये तो सब निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध से होने वाली बातें हैं, मेरे स्वभाव नहीं है, मैं तो एक सहज शुद्ध जानन स्वभाव रूप हूँ जो निरपेक्ष है। हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम—यह दृष्टि जगे, इसके लिए निमित्त नैमित्तिक भाव का

वर्णन है, न कि निमित्त नैमित्तिक को रचना खाली निर्वाण विधि की कथा गाने के लिये है। उसे समझ लीजिए, ज्ञान कर लीजिए परमहित का मार्ग तो सहजस्वभाव है।

प्रमाण की रक्षण शीलता—कोई उतावला बनकर कि निमित्त का तो नाम लेने से वस्तु की स्वतन्त्रता खत्म हो जाती है। इसलिए निमित्त का यहाँ से शब्द ही हटावो वह कुछ चीज नहीं है। ऐसे उताव लेपन से भी विनाश होता है। और सारा निमित्त का ही तो सब माहात्म्य है, वही तो सब कुछ करता है, वही सुखी करता है, दुःखी करता है, वही मोक्ष दिलाता है। अपने आपकी भी भी कुछ वृत्ति होती है, कला होती है, अपराध या कुछ समीचीन वृष्टि हुआ करती है इस बात को बिल्कुल भुला दिया तो किस ओर जाकर गिरोगे। जैसे एक तालाब या एक नदी के बीच ६ इंच की ही पटरी डाल दी जाये अंत तक तो उस पर चलना जैसे दुर्गम है। जरा चूके तो इस ओर गिरोगे या उस ओर गिरोगे निमित्त नैमित्तिक मानने में डर क्या है, और वस्तु की स्वतन्त्रता मानने में डर क्या है? दोनों में प्रवेश करा देने वाला प्रमाण है।

अपनी वृत्ति पर अपने भविष्य की निर्भरता—इस जीव की यहाँ आश्रय की चर्चा है। आश्रयभूत में ही इतना महत्व डाल दिया तो बहिरात्मा है वह पुरुष कि मेरा जीवन, मेरा पालन, मेरा पोषण अमुक के द्वारा ही होता है, यह न हो तो न हो। अरे जिसके द्वारा तुम्हारा पोषण होता है, यह न हो तो न हो। अरे जिसके द्वारा तुम्हारा पोषण हो ग है, सोचो तो सही कि आप बड़े हैं या वह बड़ा है? आपके पुण्योदय का निमित्त पाकर दूसरा पालन कर रहा है। उदय किसका बड़ा कहलाया? जिसका पालन किया जा रहा है उदय उसका बड़ा है। जो पालन कर रहा है उसका उदय उसके लिए इतना बड़ा नहीं है। वह उसके पुण्य के उदय से पालने का निमित्त बन रहा है। कहाँ वृष्टि डालते हो? कोई कहे कि मेरे उदय से पालन होता है, तो फिर इसको अटपट बोलो—गालियाँ दो, तुम मेरे कुछ नहीं हो, मेरा कुछ नहीं करते हो। मेरा उदय है सो तुम्हें नाचना पड़ता है। अरे जहाँ इतनी कृतञ्जता अथवा इतना विषम भाव बन जाये तो वहाँ पुण्य भी खत्म हो जायेगा अब जब पाप का उदय आयेगा तो उसका निमित्त दूसरा बनेगा।

मेरे क्लेश में मेरे अपराध की साधकतमता—भैया! जो कुछ जीव का भविष्य है भला या बुरा वह उसकी चेष्टा पर निर्भर है। मैं तो बुरा बना रहूँ और दूसरे लोग मेरे लिए आराम के साधन जुटायें, यह नहीं हो सकता है। मैं भला रहूँ और लोग मुझे दुःखी कर सकें यह नहीं हो सकता है। कदाचित् मैं भले आचरण से रहूँ इतने पर भी लोग मुझे सताने का भाव रखें और सताने का उद्यम करें, इतने पर मुझे यदि दुःख होता है तो उसमें मेरा अपराध है कि मैं अपने ज्ञान स्वरूप की वृष्टि में क्यों नहीं रहा? क्यों सम्बंध वृष्टि में बह गया? ये मुझे यों कहते हैं। मैं तो है निरपराध, ऐसी जो बाह्य वृष्टि बनी यह तो मैंने अपराध किया है, उसका फल दूसरा कौन भोगने आयेगा? मैं कैसा ही करूँ, कुछ करूँ, कर सकूँगा तो अपना ही

परिणमन। दूसरे का परिणमन मैं नहीं कर सकता।

उपादान की प्रकृति—यह उपादानभूत वस्तुओं की योग्यता है कि वे किसी उपाधि का सानिध्य पाकर

कैसा परिणम जाती हैं, यह उपादान में प्रकृति पड़ी हुई है, तो उपादान अपनी प्रकृति के अनुसार पर का निमित्त पाकर अपनी विकृत परिणति बनाया करता है। उसमें पर का कुछ आया हो ऐसा नहीं है। प्रकृति ही उपादान में ऐसी पड़ी हुई है, इस प्रकार के एक समीचीन ज्ञान कराने के लिए यह वर्णन इसमें प्रत्येक अधिकार में आया। पर वस्तु का पर वस्तु के प्रति कर्तृकर्मत्व भाव हटाने के लिए सभी अधिकारों में यह चर्चा है, और खासकर एक अधिकार अलग से भी कर्तृ कर्म अधिकार को बनाया है।

स्वहितयत्न—हमें कुछ अपनी बात नहीं रखनी है, हमें अपना मत नहीं बनाना है, हमें अपना कुछ बड़प्पन नहीं जताना है, हमें अपना कुछ मार्ग नहीं चलाना है, ऐसी बात मन में रखकरकेवल हित करना है, यह भाव बनायें। बड़ी कठिनता से यह नर भव मिला है, ऐसा कुल, ऐसा धर्म ऐसा संग, ऐसी गोष्ठी ये सब बड़ी कठिनता से मिले हैं अब इस कठिन अवसर को पाकर हमें क्या देखना है किसी भाई की ओर किसी अन्य की ओर? इसलिए कि किसी के खश्डन मण्डन का परिणाम करके, अपने आपको किसी पक्ष में रंग करके अपने समय को खो लेना ऐसा कुछ नहीं करना है। समता परिणाम से अपने हित के ध्येय को सोचकर जानकर चलना चाहिए। मेरी मदद करने वाला दुनिया में कोई नहीं है, मैं ही मेरा मददगार हूँ, जिम्मेदार हूँ। एक काम है, एक प्रयोजन है, एक दृष्टि है। चाहे भक्ति करो, चाहे स्वाध्याय करो, चाहे पुद्गल की बात, चाहे जीव की बात, सब प्रकरणों में, सब व्यवहार परिणतियों में प्रयोजन उसका एक है। किसी प्रकार उसके सहज चैतन्य स्वरूप की कदाचित् झलक हो जाया करे, जिस झलक के प्रताप से मेरा भव समाप्त होगा, सदा के संसार संकट टलेंगे।

हितार्थी का एक अविचल प्रयोजन—मैया! अपना एक ही तो काम है। जब जिसका प्रयोजन निश्चित हो जाता है तो वह सब जगहों में, सर्व वातावरण में, सर्व उपदेशों में जो यथायोग्य बनते हैं उनमें अपने प्रयोजन को निरखता है। जैसे व्यापारी कहीं भी बैठे, उसका अपनी आमदनी बनाने का प्रयोजन नहीं छुटता। कहीं जावो, कहीं भ्रमण करो, कुछ करो, कैसी ही बात हो, अपनी उस प्रतीति से नहीं हटता, जो आय का अर्थी है। इसी प्रकार जो अपने स्वभाव साधन का अर्थी है, केवल ज्ञान प्रतिभास मात्र अपने अनुभव का अर्थी है ऐसा पुरुष सर्वत्र सर्व प्रसंगों में अपने आपका प्रयोजन नहीं भूलता। सुन लिया हमने कि स्वयम्भूरमण समुद्र में एक हजार योजन लम्बा मच्छ रहता है, शंका नहीं है, इसको जानकर खुश हो रहे हैं, इतना बड़ा विज्ञान है ५०० योजन का चौड़ा है ढाई सौ योजन का ऊंचा है। खूब इस तरह से सुनते जाइए, पर प्रयोजन इससे यह निकालना है कि अपने चित्त में यह बैठा लेवो कि अपने आप में विराजमान इस शुद्ध चैतन्य प्रभु के दर्शन बिना ऐसी स्थिति जीव की हो जाती है।

कर्तृत्व के मद में करने के निषेध की भी विपर्यासता—कोई भी वर्णन हो सब वर्णनों से यह हितार्थी पुरुष अपने स्वभाव दर्शन का प्रयोजन निकाल लेता है। इस प्रकरण में समझा रहे हैं कि यह तेरी बुद्धि है, अध्यवसाय है कि पर जीवों को मारता हूँ, अथवा पालता हूँ, जिलाता हूँ, मारता हूँ, दूसरे जीवों को दुःखी करता हूँ—अथवा सुखी करता हूँ ये समस्त अज्ञानमय अध्यवसान हैं। मैं किसी दूसरे को दुखी करता हूँ,

क्या यह बात सच है? नहीं। कोई कहे कि देखो मैंने उसे बचा दिया, मैंने उसे मारने नहीं दिया, इतनी मेरी हिम्मत है। इसमें भी कर्तृत्व का अध्यवसाय है। जैसे मैंने उसे मारा, यह कर्तृत्व के मद में कह रहे हैं, इसीलिए इसमें भी बंध है। मैंने नहीं मारा, इस अध्यवसाय में भी बंध है। कहीं उपेक्षा भाव से यह वृत्ति नहीं जगी कि मैंने नहीं मारा, किन्तु कर्तृत्व के आशय गे यह बुद्धि जगी है।

मूल के विपर्यास गे उत्तर की विपर्यासिता—भैया! जब कोई घड़ा पहिले से औंधा करके रखा हुआ हो तो उस पर जितने भी घड़े रखे जायेंगे औंधे ही रखे जा सकते हैं। जिसके मूल में कर्तृत्व का अध्यवसाय है मैं दूसरे को यों कर सकता है, कुछ कर सकता हूँ अथवा दूसरे को मारने की विधि की बात कहे—मैंने मारा, इसमें भी कर्तृत्व मद है। मैंने नहीं मारा, ऐसा कहने में भी कर्तृत्व का मद है। मूल कर्तृत्व बुद्धि हटे और ऐसा परिज्ञान हो कि अनेक प्रकार निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, इतने पर भी हमें प्रत्येक पदार्थ का अपने-अपने स्वरूप में सत्त्व नजर आये। इतना वस्तु स्वरूप का अभ्यासी पुरुष अपने आप मोक्ष के मार्ग में कुशलता से है।

अध्यवसाय का भाव—भैया! जितना कर्तृत्व का परिणाम बनता है वह सब अज्ञानमय अध्यवसाय है। अध्यवसाय का अर्थ है अधि अवसाय, अधिक निश्चय कर लेना। वस्तु के स्वरूप से भी ज्यादा निश्चय करना, बोलना इसे कहते हैं अध्यवसाय। यह संसारीसुभट वस्तुस्वरूप से भी अधिक निश्चय करता है। ये संसारीसुभट किसी बात में सर्वज्ञ से भी अधिक जानते हैं। ये जीव जानते हैं कि यह घर मेरा है, पर भगवान नहीं जानता कि यह मकान मेरा है व क्योंकि भगवान यदि जान जाये कि यह मकान हमारा है तो यह तो एक पक्की सरकारी रजिस्ट्री से भी पक्की हो गई। जिस घर को भगवान ने कह दिया कि यह घर इसका है तो वह घर तो अविनाशी हो जायेगा, मिटेगा नहीं, बिछुड़ेगा नहीं।

अध्यवसाय का फल—ये ही सब भाव अध्यवसाय हैं। देखो इसकी सुभट्टा कि इस जीव ने सर्वज्ञ से भी अधिक इस दिशा में जाना। तो जो अपनी चादर से ज्यादा पेर फैलाये उसके ठण्ड ज्यादा घुस जायेगी। इस संसारी जीव को सर्वज्ञ के ज्ञान से अधिक की जानकारी करने में लगने से जन्ममरण करना पड़ता है। तो अध्यवसाय जिनके होता है उनके रागादिक भाव है इसलिए या तो शुभ बंध का कारण होगा या अशुभ बंध का कारण होगा।

निष्कर्ष—कर्म बन्ध के हेतुभूत समस्त अध्यवसायों को छोड़कर सहजशुद्ध चिन्मात्र अन्तस्तत्त्व में उपयोग लगाना ॥२५९॥

यावन्मात्र अध्यवसाय हैं, सभी बंध के कारण ही होते हैं ऐसा अब निश्चय करते हैं।

गाथा २६०-२६१

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्ज्ववसिदं ते ।

तं पावबन्धगं वा पुण्णसस्व व बन्धगं होदि ॥२६०॥

**मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्ज्वसिदं ते ।
तं पावबंधं वा पुण्णसस्स व बंधं होदि ॥२६१॥**

परोन्मुखता की बन्धकता—हे आत्मन् ! तेरा जो यह अभिप्राय है कि मैं जीवों को दुःखी और सुखी करता हूँ, यह अभिप्राय पापबंध का करने वाला होता है अथवा पुण्य का बंध करने वाला होता है, और जीवों को मैं मारता हूँ अथवा जिलाता हूँ यह अभिप्राय भी पाप अथवा पुण्य का करने वाला है । इस प्रकार का अध्यवसाय करते हुए की स्थिति में जीव अपने स्वभाव में नहीं रह सकता क्योंकि उसकी परपदार्थों की ओर दृष्टि गयी है । इसी कारण अपने स्वभाव से च्युत होने से शुभ और अशुभ कर्मों का बंध करता है । बंध की दृष्टि से देखा जाये तो ये दोनों समान हैं, चाहे पुण्य बंध हो और चाहे पाप बंध हो, क्योंकि इस संसार में रोके रहने का काम इन दोनों का है । जैसे कैद में किसी को सोने की बेड़ी पहिना दी और किसी को लोहे की । कैद का मतलब तो रोक है । रोकने में दोनों बेड़ियों की समानता है ।

भावों का विकट बन्धन—भैया ! पुण्य का बंधन होने पर इस जीव को मीठा क्लेश होता है। कैसा? कि अन्तरङ्ग में तो क्लेश है पर मानता उसमें हर्ष है । हर्ष भी क्षोभ के बिना नहीं हुआ करता । कभी-कभी हंसी अत्यधिक आ जाये तो उस हंसी में पीड़ा और दर्द होने लगता है । पुण्य के उदय से पाये हुए समागम में जो हर्ष मानना है उसका आधार आकुलता है । राग हुआ, और राग होने से आकुलता हुई, इसलिए उसके बंधन हुआ अन्यथा बन्धन न होता । मैं जीवों को सुखी करता हूँ या दुःखी करता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय है इसमें परदृष्टि है और परमार्थ से पर की ओर दृष्टि लगाना ही बन्धन है । पौद्गलिक बंधन भी साथ होते हैं मगर साक्षात् बंधन तो पर की ओर दृष्टि करने का है । जैसे किसी का स्त्री में चित्त है, पर इस शरीर से बँधा नहीं है, पृथक्-पृथक् वस्तु हैं । दूसरे का बंधन नहीं है, पर उसने अपने में रागपरिणाम करके एक बंधन बना लिया है, और वह रागपरिणाम के कारण ऐसा बंधन में दुःखी है कि वह स्वार्थीन नहीं रह पाता है, परवश रहता है ।

अध्यवसायों की बन्ध प्रकृति—तो जितने भी अध्यवसाय हैं वे सब बंध के ही कारण हैं । जैसे पुरुष को निन्दा सुनने में क्लेश होता है इसी प्रकार प्रशंसा सुनने में भी क्लेश होता है, पर इस क्लेश को क्लेशरूप नहीं मानते । विकल्पों का स्वभाव ही क्लेश उत्पन्न करना है—चाहे निन्दा की मान्यता का विकल्प हो चाहे प्रशंसा की मान्यता का विकल्प हो । जहाँ विकल्प होते हैं वहाँ आनन्द नहीं ठहरता । अपने आपको आनन्द निर्विकल्प स्थिति में ही होता है । पुण्य निर्विकल्प स्थिति का कारण नहीं है, वह तो विकल्पों का ही हेतु है । पुण्य से मिला परसमागम, मोहनीय से हुआ इष्ट परिणाम । तो अब अपने रागवश कल्पनाएँ बनाता है, और उन कल्पनाओं को बनाकर दुःखी होगा । कभी अनुकूल बात से भी दुःखी और कभी प्रतिकूल बात हुई तो आर्तध्यान करके दुःखी होता है । आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दोनों ही दुःखस्वरूप हैं, पर आर्तध्यान का व्यक्त दुःख है और रौद्रध्यान का आन्तरिक दुःख है ।

रौद्रध्यान की मलिनता—मलिनता की दृष्टि से देखा जाये तो आर्तध्यान की अपेक्षा रौद्रध्यान अधिक

मलिन है। दूसरे जीव को दुःखी करके हर्ष मानना, झूठ बोलकर झूठी गवाही करके दूसरे को फँसाकर सुख मानना, यहाँ वहाँ की चीजें चुराना और परिग्रह जोड़कर संचय करके आनन्द मानना, ये समस्त स्थितियाँ इस जीव को अन्तर में विह्वलता ही उत्पन्न करती हैं। तब पुण्य के उदय में भी क्लेश हुआ और पाप के उदय में भी क्लेश हुआ। बंधन दोनों में समान है। जितना भी परवस्तुओं के सम्बन्ध में अपना सम्बन्ध जोड़ना हुआ, निश्चय से वे सब अध्यवसाय हैं, वे रागमय हैं और अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। यह मिथ्यादृष्टि का अज्ञान परिणाम बंध का कारण है। मुझे पुण्य पाप के भेद से दो होने के कारण बंध में दूसरा हेतु नहीं ढूँढना चाहिए। अज्ञानमय भाव बंधन अज्ञान के कारण है। ज्ञान के कारण बंधन नहीं होता।

भैया ! ज्ञानगुण का जितना परिणमन है वह सब ज्ञानमय है। ज्ञानमय भाव से बंधन कभी नहीं होता। अज्ञानी जीव के मिथ्यादृष्टि जीव के जो बंधन हैं वह उसके ज्ञान के कारण नहीं हैं, चाहे वह कैसा ही ज्ञान हो। अल्पज्ञान हो, कुज्ञान हो, ज्ञान के कारण बंध नहीं है किन्तु उसके साथ जो रागद्वेषादिक अध्यवसाय लगे हुए हैं—ये अध्यवसाय उसके पापबंध के कारण हैं। ऐसा निश्चय करना कि जितना भी बंधन है उस बंधन का हेतु अज्ञानमय परिणाम है। इस ही एक अध्यवसाय के द्वारा दो प्रकार के अहंकाररस पैदा होते हैं। मैं सुखी करता हूँ मैं जीवित करता हूँ इस प्रकार का शुभ अहंकार होता है। मैं दुःखी करता हूँ, मारता हूँ इस प्रकार का अशुभ अहंकार पैदा होता है। चाहे शुभ हो या अशुभ, परन्तु दोनों ही एक अज्ञानमय परिणाम हैं। यह आत्मपदार्थ मात्र अपने आपको परिणमाता है, ऐसी दृष्टि को अलग कर देने वाला यह कर्तृत्व का परिणाम है।

अध्यवसायों के बन्ध हेतुत्व का कारण अज्ञानमयपना—सम्यग्दृष्टि जीव की सीधी धर्म में रुचि होती है। पुण्यभाव उसके होता है पर मंगलमय शिवस्वरूप आत्मधर्म को ही समझता है। जब धर्म की रुचि होती है और रागभाव चलता है तब उसके पुण्यभाव बनता है। पुण्य दो प्रकार के होते हैं—१-पुण्यानुबंधी पुण्य और एक पापानुबंधी पुण्य। अज्ञान अवस्था में जो पुण्य बनता है उसे पापानुबंधी पुण्य कहते हैं और ज्ञान अवस्था में जो पुण्य बंधता है वह पुण्यानुबंधी पुण्य कहलाता है। पापानुबंधी पुण्य से क्या होता है कि पुण्य बन्ध गया। अब पुण्य का उदय आयेगा। उस उदय में जो उसे समागम प्राप्त होता है, चूँकि अज्ञानभाव से पुण्य बंधा था, तो अज्ञान का ही संस्कार पड़ेगा, और उसमें मूर्छा करेगा, विषयों में आसक्त होगा। दूसरों को न कुछ गिनेगा, अपने को सर्वस्व मानेगा। ऐसा विकल्प उपज जाने से पाप ही बँधेगा और पाप के फल में दुर्गति पायेगा।

हितयोग में पुण्य पाप की समानता—परमात्मप्रकाश ग्रन्थ में भी जहाँ योगीश्वरों का वर्णन किया है वहाँ समता परिणम का विवरण बताया है अर्थात् योगियों में पुण्य और पाप दोनों एक समान दिखाया है। पुण्य कभी सुख का कारण हो तो पाप का उदय भी कभी सुख का कारण होता है। पाप का उदय कभी दुःख का कारण बनता है तो पुण्य का उदय भी कभी दुःख का कारण बनता है। यहाँ सुख दुःख का मतलब हित अहित है। पुण्य के उदय से यदि कोई जीव हित के साधने में लग जाते हैं, मंदकषाय हुआ, समागम

अच्छा हुआ, आजीविका की निर्विघ्नता हुई, धर्म कार्य में लग गए, उन योगियों के पुण्य का उदय हो तो लोगों की भक्ति हो, धर्मात्मा पुरुषों में उन्हें आदर हो तो उनका भी अन्तरङ्ग तथा उत्साह और निर्मल होने लगा, उत्साह जगा तो पुण्य का उदय देखो हित का कारण हुआ ना, तो अब इस ओर विचारों कि पाप का उदय भी तो कभी हित का कारण होता है। इष्टवियोग हो अथवा कोई उपद्रव आपत्ति आये तो उस समय ज्ञान चेत जाये, ज्ञान जग जाए तो सारे समागम का त्यागकर वह हित में लग जायेगा। तो देखो—पाप का उदय भी तो हित का कारण बना।

अहितयोग में पुण्य पाप की समानता—जैसे की प्रायः पाप का उदय अहित का कारण बनता है पाप के उदय में आकुलता हो, चित्त में भी संक्लेश हो। इसी तरह पुण्य का उदय भी अहित का कारण बनता है। जवानी, धन-सम्पदा और अपनी प्रभुता-जिसे कहते हैं प्रभाव, या अपनी बात चलाना और अज्ञान ये चारों चीजें अनर्थ के लिए होती हैं। ज्ञान यदि साथ हो तो इसका अनर्थ रुक जाये। पर प्रायः करके इस वैभव के और जवानी के, अपनी प्रभुता के पाने से अनर्थ ही बनता है। तो पुण्य का उदय अहित का ही करने वाला हुआ।

धर्मद्रष्टा की दृष्टि—जिसने धर्म स्वरूप को देखा है। धर्ममय निजआत्मतत्त्व का दर्शन किया है और इस दर्शन में अलौकिक अद्भुत आनन्द लूटा है ऐसे पुरुषों को पुण्य और पाप दोनों ही बंधन जंचते हैं। तो मैं दूसरे को दुःखी करता हूँ ऐसे परिणाम में अहंकार आया। उसे अशुभ बंध हुआ, पाप का बंध हुआ। मैं इसको जिलाता हूँ, मैं इसको सुखी करता हूँ, ऐसा परिणाम शुभपरिणाम हुआ, वह पुण्य बंध का कारण हुआ किन्तु स्व-सम्वेदन ज्ञान से उत्पन्न हुआ, शुद्ध आनन्द का रस लेने वाला तो इन दोनों स्थितियों को बंधन समझता है।

शुद्ध में गति की पद्धति—भैया ! शुभ और अशुभ दोनों से हटकर अपने आपके शुद्ध भावों में आना चाहिए। प्रक्रिया इसकी ऐसी है कि पहिले अनन्त परिणाम का त्याग करो, असंयम का त्याग करो, संयम को ग्रहण करने के बाद संयम से भी और आगे जो शुद्ध परिणाम है, ज्ञानभाव है उस ज्ञान में निष्ठ होओ तब संयम का भी त्याग हो जाता है। ये जो व्रत नियम तप लेते हैं वे इस प्रकार अशुभ से हटकर शुभ में आते हैं। फिर शुभ से हटकर शुद्ध में आकर अपने परमपद की प्राप्ति कर लेते हैं। पर कर्तृत्व हमारा क्या है? यदि हमने पुण्य को हितरूप माना तो फिर पुण्य से उत्कृष्ट जो धर्म है, ज्ञान है, उसमें हम कैसे लग पावेंगे। दृष्टि में तो हमारी उत्कृष्टपद की ही निगाह रहनी चाहिए।

स्वभावच्युति के परिणाम—जो धर्म दृष्टि से शून्य हैं अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप से अनभिज्ञ है, ऐसे जीव शुभ अथवा अशुभ के अहंकार के रस से ओझाल होकर पुण्य अथवा पाप दोनों प्रकार के बंधनों को करते हैं। दोनों ही बंधों का कारण अज्ञानमय अध्यवसाय है। अध्यवसाय का अर्थ है अधिक निश्चय करना। वस्तु ऐसी नहीं है पर माने वैसा ही इसे कहते हैं अध्यवसाय। कोई जीव दूसरे को सुखी नहीं कर सकता, पर माने कि मैं सुखी करता हूँ, यही अध्यवसाय है। मैं दूसरे को दुःखी नहीं कर सकता, वह दुःखी होता है

अपने उदय से । यह केवल दुःखी करने का परिणाम ही खराब कर रहा है । तो ऐसा अधिक निर्णय रखना, जो स्वरूप में भी न पाया जाये उसे कहते हैं अध्यवसाय । इस अध्यवसाय से यह जीव शुद्ध आत्मा की भावना से च्युत हो जाये सो पाप का अथवा पुण्य का बंधक हो जाता है ।

अध्यवसाय की व्यर्थता—इस जीव ने अपने ही शुभ अथवा अशुभ परिणाम से जो बंधन बाँधा है उसके आधीन होकर यह सुख दुःख परिणाम को भोगने वाला होता है । तू व्यर्थ ही पर जीवों के सम्बन्ध में सुखी दुःखी करने का अध्यवसाय करके अपने शुद्ध आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान से दूर हो रहा है । अपने आपके ज्ञान के अनुभव को छोड़कर अन्य पदार्थों की ओर दृष्टि लगाना यही बंधन है । सो जब तूने अपने आपके स्वभाव की दृष्टि छोड़ दी तो प्रकृत्या आकुलता होगी । उस समय तू अपने आपको परिणामों से तो बाँध ही रहा है पर कर्मों का भी बंधन हो जाता है । तू दूसरे का कर कुछ नहीं सकता? केवल विचार कर करके एक अपने को विवश बना रहा है ।

अध्यवसायों से स्वयं का अनर्थ—जैसे कोई बूढ़ी, पुरानी देहाती बुढ़िया जो पुराने दिमाग की है, असभ्य है वह अपने ही घर में बैठे हुए दाँत किट-किटाती हुई दूसरे को कोसती रहती हैं जिससे उसे क्लेश होता हो, जो दुश्मन दिखता हो । तो देखने वाले लोग उसे अज्ञानी देखते हैं । कैसा अपने शरीर को कष्ट पहुंचा रही है । इसकी इस क्रिया के करने से वहाँ कुछ होता नहीं है, बल्कि ईश्वर से प्रार्थना करती है हाथ पीट-पीटकर कि हे भगवान ! इसका विनाश कर दो । तो ये सब चेष्टाएं क्या उस दूसरे जीव के अहित की कारण बनती हैं? उसका ही उदय अशुभ होगा तो क्लेश आयेगा, पर इसके सोचने से दूसरे को क्लेश नहीं होता । दूसरे जीव का सब कुछ जीवन मरण, सुख और दुःख उसके उपार्जित किए हुए कर्मोदय के आधीन है, दूसरे जीव के विचार के आधीन नहीं है । सारा जहान केवल अपने-अपने भाव ही कर पाता है, कोई जीव किसी अन्य जीव का सुख, दुःख, हित नहीं कर पाता है । सब अपने आप में बसे हुए गिड़गिड़ाते रहते हैं । दूसरे की ओर दृष्टि करके क्रोध मचाते रहते हैं ।

हित कर्तव्य—हम अपना हित देखें, अपना कल्याण सोचें तो हम अपने सुख का मार्ग पा सकेंगे । दूसरे को हम मार्ग में लगायें और खुद ज्ञानमार्ग का अनुसरण न करें, उसकी दृष्टि तक न करें तो इससे कुछ भी तो लाभ नहीं है । फिर तो यह संसार है । जब तक उदय है तब तक ठाठ बाट है, उदय खोटा आये तो सब ठाठ मिटेगा, और मरने के बाद तो जिस किसी भी गति में चले गये, तब फिर हम वहाँ क्या सम्हाल कर सकते हैं? सम्हाल कर सकने का तो अवसर इस नर जन्म में ही मिला हुआ है । सो ज्ञानार्जन कर मनन करें, अपने आपकी स्वतन्त्रता का दर्शन करें, अपने एकत्व स्वरूप का ध्यान करके अपना हित कर लें जो है जगत में उससे हम क्या नफा पायेंगे? अपना परिणाम सुधारें, इस अध्यवसाय से दूर हों, ज्ञानसुधारस का पान करें तो हम सर्व क्लेशों से दूर हो सकते हैं ।

अध्यवसाय के हिंसापना—इस बंधाधिकार में प्रारम्भ से अब तक जो वर्णन हुआ है उस वर्णन में यह निष्कर्ष निकाला है कि अध्यवसाय ही हिंसा है । हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है । और हिंसा का ही

अध्यवसाय क्या, यावन्‌मात्र अध्यवसाय है अर्थात् पर में कुछ कर देने के सम्बन्ध में जितना विचार है वह सब हिंसा ही है। किसकी हिंसा करने वाले हैं। अपने आत्मा के निश्चय प्राणों की हिंसा करने वाले हैं। उनमें से हिंसा के सम्बन्ध में इस गाथा में बतला रहे हैं कि वास्तव में हिंसा का विचार कर लेना ही हिंसा है।

निष्कर्ष—पापबंध व पुण्यबंध दोनों का हेतु अध्यवसाय है। जीवों को सुख दुःख आदि का लाभ उनके उपार्जित कर्मों के उदय से होता है। अतः पर के कर्तृत्व के अध्यवसाय को अनर्थ जानकर उसको दूर करना ॥२६०-२६१॥

गाथा २६२

अजद्विवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा वा मारेउ ।

एसो बंध समासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

बंध अध्यवसाय परिणाम से होता है। जीव मरो अथवा मत मरो, मारो, अथवा मत मारो। निश्चय से बंध तो जीव के अध्यवसाय परिणाम से ही होता है।

हिंसा परिणाम के सद्भाव व अभाव में हिंसा व अहिंसा के उदाहरण—मोटे रूप में कोई उदाहरण ले लो। डाक्टर रोगी का इलाज करता है, आपरेशन भी करता है और उस चिकित्सा में यदि रोगी मर जाये तो उस डाक्टर को हत्यारा किसी ने नहीं कहा। तो जो जानकार हैं ऐसे वैद्य के हाथ से चिकित्सा करते हुए में यदि कोई रोगी मर जाये तो उसे लोग हत्यारा नहीं कहते। और, शिकारी शिकार खेलने जा रहा हो, न मिले शिकार तो भी हत्यारा है, और उसके हिंसा का बंध है।

प्राणघाती एक हिंसक अनेक—एक आदमी हिंसा करता है और हिंसा का फल अनेक आदमी भोगते हैं यह अपने-अपने परिणामों की ही तो बात है। एक ने सांप मारा—अब १०-२० जीव मनुष्य पड़ोस के इकट्ठा हो गए—सब कहें कि वाह किसने मारा? मारने वाले ने बड़ी बहादुरी की। ऐसी अनुमोदना करते हैं तो उन बीसों ने हिंसा का बंध किया। एक ने जो हिंसा की उसका बंध बीसों ने जो अपना परिणाम बनाया उस परिणाम से उन्हें हिंसा का बंध हुआ।

अन्य घात से पहिले हिंसा परिणाम का फल भोग लेना—कहो आज हिंसा का परिणाम करे और हिंसा न भी कर पाये और उससे पहिले बंध भी हो गया और फल भी पाने लगा, यह भी सम्भव है। हिंसा का आज परिणाम करे, हिंसा नहीं कर पायी, उस हिंसा के परिणाम से बंध तो उसी समय हो ही गया। और आबाधाकाल निकलकर किसी प्रकार उसका फल भी मिल गया और वह न मर पाया, वह मरे कहो आगे। हिंसा का फल पहिले भोग लिया। तो जितना भी हिंसा का बंधन है वह अध्यवसान से ही है।

अज्ञानी का विपरीत भाव—चूंकि वह अज्ञानी प्राणी ज्ञानी संतों से भी बड़ी होड़ मचाने लगा अपनी जानकारी में, इसलिए दुर्गति सहनी पड़ी। ज्ञानी जीव ऐसा नहीं जानता है कि मैं दूसरे को जीवन देता है,

सुखी करता हूँ, दुःखी करता हूँ, पर यह अज्ञानी अपने अज्ञान से कल्पना कर लेता है कि मैं उसे सुखी करता हूँ। यह महल मकान मेरा है। जो वस्तु में बात नहीं पड़ी, जो है नहीं बात उसका भी ज्ञान करे तो वह उसका अधिक छलांग मारना हुआ ना, हिम्मत से ज्यादा। जो उसने अध्यवसान की छलांग मारी सो उसकी अनेक दुर्गतियाँ हुईं। दूसरे जीव का जो प्राणघात होता है वह उनके कर्मोदय की विचित्रता के वश से होता है। कर्मोदय की बड़ी विचित्रता। सो कदाचित् प्राणघात हो भी जाये और कभी न कभी हो, पर जो मैं मारता है ऐसे अहंकार रस में डूबा है उसने जो हिंसामय परिणाम किया है वह तो निश्चय से बंध का कारण है क्योंकि निश्चय से दूसरे के भावों को दूसरा कोई कर नहीं सकता। दूसरे की भावना का परिणमन दूसरा नहीं कर सकता है।

अन्य के द्वारा अन्य के परिणमन की अशक्यता का उदाहरण—प्राणाव्यपरोप यह दूसरे का ही तो परिणमन है। उसको कोई दूसरा नहीं कर सकता। अनेक घटनाएँ ऐसी होती हैं कि मारना चाहे और खुद मर गया। जैसे एक बच्चों की पुस्तकों में कथानक कहा करते हैं कि एक शिकारी किसी पक्षी को मारने का यत्न करने लगा, पक्षी पर बन्दूक चलाना चाहा और ऐसे पक्षी पर कि जिस पर मानो बाज झपट रहा हो खाने के लिए, और उसी पक्षी को मारने के लिये शिकारी ने बन्दूक चलाया, पर अचानक क्या हुआ कि नीचे से एक साँप निकला, उसने शिकारी को डस लिया, सो साँप से डसे जाने के कारण उसका हाथ हिल गया, तो बन्दूक की गोली उस बाज के जाकर लगी। बाज और शिकारी दोनों पछार खा गए। तो दोनों ने हिंसा का परिणाम किया था। उस पक्षी की हिंसा नहीं हो सकी और उन दोनों की मृत्यु हो गयी। तो मारने वाला जिसे मारने जाये वह तो बच जाये और खुद मर जाये।

अध्यवसायविकल्प से बन्ध की निश्चितता—जिसने जैसा परिणाम किया उस परिणाम के अनुसार उसे बंध होगा। अध्यवसान परिणाम से बंध होता है। जीव को मारो अथवा न मारो—यहाँ कोई यह नहीं कह सकता कि यह जीव मर गया है तो मरने दो। हम परिणाम करेंगे तो बंध होगा नहीं तो नहीं। अरे बुद्धि करके तो तुम मारने का यत्न कर रहे हो तो तुम्हारा परिणाम तो खोटा ही है। जहाँ दूसरे के दुःखी करने का परिणाम हुआ वहाँ तो हिंसा का बंध ही हुआ। और, बंध तो इसे अज्ञानमय परिणाम के होने पर चलता ही रहता है। अपने आत्मा का घातरूप बंध। शांति मिलती है जीव को तो शांतिस्वरूप जो निजस्वभाव है उस स्वभाव की दृष्टि होने पर, उस पर उपयोग होने पर इसको शांति प्राप्त होती है। मेरा कहाँ क्या है?

अशान्ति का रूपक—अशांति का यहीं तो रूप है कि उपयोग में कोई परपदार्थ का बनना और उसके सम्बन्ध में कुछ कल्पनाएँ गढ़ना, इष्टबुद्धि, अनिष्टबुद्धि कोई बात गढ़ना यहीं तो अशांति का रूप है और अशांति क्या है? किसी पदार्थ के द्वारा किसी दूसरे जीव को कोई अशांति की भी जा सकती है क्या? कहाँ करें? किसी पदार्थ से कोई परिणमन निकलकर किसी जीव में पहुँचता हो, क्य। ऐसा होता है? अशांति करने वाला पुरुष परपदार्थों को उपयोग में लेकर और अपने मोह से कल्पनाएँ गढ़कर दुःखी होता है। जब तक यह नहीं जाना कि मैं सर्व से विविक्त हूँ, अपने चतुष्यमात्र हूँ, तब तक अशांति है। मेरा जो कुछ है

मुझ में हैं, मेरे से बाहर मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी विविक्त दृष्टि जब तक नहीं बनती है तब तक परदृष्टि नहीं हटती, शांति नहीं होती।

मोह का परिचय—मोह नाम किसका है? राग करने का नाम मोह नहीं है। कोई वस्तु सुहावनी लगी, इसका नाम मोह नहीं है, मोह नाम है सम्बन्ध बुद्धि का। राग और मोह इन दोनों को लोकव्यवहार मैं प्रायः एक हो मान लेते हैं कि वह राग करता है, वह मोह करता है, वह उससे मोह करता है। अरे वह उससे मोह क्या करता है, राग ही करता है। परन्तु, दो पदार्थों का सम्बन्ध है। मेरा यह है ऐसी जो सम्बन्ध मानने की बुद्धि है इसको कहते हैं मोह। यह मोह नहीं रहता है और फिर भी राग रहता है ऐसे भी जीव हैं। जिन्हें सम्यक्त्व जगा, पंचम गुणस्थान, छठे गुणस्थान के जो जीव हैं उन्हें मोह बुद्धि नहीं रही, पर राग रहता है। बुद्धिपूर्वक भी रहे तो अपनी समझ में आए, तो मोह नाम है सम्बन्ध मानने का।

मोह मिटने का अर्थ—भैया! यदि कहा जाये कि मोह मिटाओ तो मोह मिटने का अर्थ यह है कि सम्बंध नहीं मानो। इसी का नाम है मोह का मिटना। राग तो मिटेगा आगे। ज्ञानाभ्यास का संस्कार दृढ़ होने पर राग मिटेगा पर मोह का मिटना तो तुरंत हो जाता है। यहाँ तो दो ही फैसले हैं—सम्बंध मानता है तो मोह है, नहीं मानता है तो निर्मोहता है कैसा सम्बन्ध? यह मेरा है, यह मैं हूँ, इसके ये ही हैं, इसका ही यह है, इस प्रकार का जो सम्बन्ध मानता है उसका नाम मोह है। तो मोह मिटाने का उपाय सम्बन्ध न मानना है।

मोह का अपर नाम—इसी मोह का नाम मिथ्यात्व है अर्थात् मिथ्यात्व भाव है। मिथ्यात्व भाव का भी अर्थ यही है सम्बन्ध मानने का भाव। मिथ धातु संयोगार्थक है—जिससे मिथुन मैथुन शब्द बनते हैं। सम्बन्ध मानने का भाव, मिथ्या भाव है, पर उसका उल्टा यह अर्थ क्यों पड़ गया? यह बात उल्टी है, गलत है। मिथ्या का अर्थ सीधा उल्टा नहीं है। मिथ्या का अर्थ है सम्बन्ध। सम्बन्ध की बात गलत है क्योंकि एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए मिथुन का अर्थ गलत हो गया, विपरीत हो गया, और, मिथ्या का शब्द की ओर से सही अर्थ है सम्बन्ध वाली बात। मिथ्याभाव। सम्बन्ध मानने का परिणाम। इसी को कहते हैं मिथ्यात्व।

सम्बन्ध बुद्धि में क्लेश की अधिकता—तो जो इस प्रकार देख रहा है कि मैं जीव को मारता हूँ, जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ, दुःखी करता हूँ, किसी भी प्रकार का पर से सम्बन्ध जोड़े अपनी करतूत का, अपने अधिकार का, अपने ममत्व का, उसमें व्यक्त अव्यक्त सभी सम्बन्ध आ गए। तो ऐसे सम्बन्ध का आशय होता है मिथ्याभाव। इन सब अध्यवसानों में उसी मिथ्याभाव, सम्बन्ध बुद्धि की पुट ली है। घर बन बच्चा जरा सी आज्ञा न माने जिससे कुछ नुकसान भी नहीं होता फिर भी मन में बड़ा क्लेश होता है। और, दसों बच्चों ने भी तो बात नहीं माना जो पड़ोस के दूसरे हैं, उनसे नहीं इतना दुख महसूस होता है। तो वहाँ जो क्लेश है वह सम्बन्ध बुद्धि का क्लेश है। यह तो मेरा लड़ का है और आज्ञा नहीं मानी। इस पर तो मेरा पूर्ण अधिकार है, फिर क्यों नहीं यह इस प्रकार परिणमता। इस तरह के ख्याल का बड़ा दुःख है।

पोजीशन का क्लेश—जब घर की कोई बुद्धि हो गई, बच्चों की दादी बन गई तो आराम से रहती है। बच्चे लोग तंग नहीं करते, दुःख नहीं देते, आराम से भोजन मिलता है, एक बात ही तो उससे बच्चे नहीं पूछते, उसकी प्रशंसा नहीं करते, लेकिन सम्बन्ध बुद्धि से वह बुद्धि दुखी होती रहती है, कल्पनाएं बनाती रहती है। मेरा ही तो है। फिर मेरे को हाथ क्यों नहीं जोड़ता? उसे दुःख कितना बढ़ता है। विविक्तपने की दृष्टि आ जाये तो क्लेश कम हो जाये। भारी तो दुःख है। अब बतलाओ थोड़ा सा तो जीवन है, यह भी खत्म हो जायेगा फिर यह आत्मा कहाँ जायेगा? कुछ भी तो न रहेगा। सब तो वियुक्त हो जायेंगे मगर वर्तमान समय में थोड़े काल को गम नहीं खा सकते। न ख्याल करें, न कल्पनाएँ बनायें। दूसरे मुझे कुछ समझें या न समझें। जो भी ये दिख रहे हैं सब मायामय हैं, विनश्वर हैं। अनेक द्रव्य पर्यायें हैं। पर अध्यवसान ही मूल में लगा हुआ है तो उचित विवेक नहीं जग पाता।

अपना अपने आपकी विशेषता से बन्धन—निश्चय से हिंसा का अध्यवसान करना ही हिंसा तै। बंध का संक्षेप इतना ही है। यदि अपने परिणाम बिगाड़ा तो बंध हुआ। यह भी देखिये कि निश्चय से तो जो परिणाम खोंटा किया उसमें ही यह बंध गया। यह आत्मा बंध गया, यह उपयोग बंध गया, विवश हो गया। स्नेह का परिणाम हुआ किसी जीव के प्रति तो यह बंध गया। किससे बंध गया? अपने ही रागपरिणाम से बंध गया। दूसरा तो दूसरी जगह है, उससे कहा, बंध जायेगा और अन्य जो अमूर्त पदार्थ हैं, चलने फिरने वाले जो परिवारजन हैं, इनसे आत्मा का स्पर्श भी नहीं है। बंधा क्या? पर यह राग से बंधा हुआ है। विवश हो गया है, कुछ कर नहीं सकता है तो वास्तव में बंधन तो पर की ओर दृष्टि लगाना है। अपना परिणाम है।

मोह से बन्धन की दृढ़ता—भैया! अज्ञानमय भावों का आदर करना सो बंधन का दृढ़ करना है। प्रथम तो राग से बंधे फिर राग से ही अपना हित माने तो उस बंधन को और दृढ़ किया जा रहा है। जैसे रस्सी को २ गाँठ लगाकर बाँध दो और फिर उस पर पानी से सींचो तो गाँठ और दृढ़ हो गई इसी प्रकार जीव के राग का बंधन तो था पर उस राग पर सिंचन किया, यह मैं हूँ, इससे ही हित है, मैं बड़ी चतुरायी का काम कर रहा हूँ, तो उस बंधन को और दृढ़ बना लिया। ज्ञानी निर्मोह पुरुष के भी बाह्य कुछ बंधन तो रहता है मगर उसका बंधन दृढ़ नहीं रहता है। किसी भी समय कुछ व्याकुल होने के बाद ही तुरन्त सम्हाल कर लेता है और अपने अन्तस्तत्त्व के दर्शन कर सुखी होता है।

परमार्थशरण का शरण—अन्तर में अनादि सिद्ध परमात्म स्वरूप का जो दर्शन करते हैं, ज्ञान बल से वे अपने संकटों को मिटा लेते हैं फिर स्वरूपावलोक जो होता है उसमें यह सामर्थ्य है कि अन्य समयों में भी यह आकुलित नहीं हो सकता। भैया! लोक में सर्वत्र दृष्टि डाल लो, अपने लिए अपना शरण कुछ नहीं मिलेगा। हाँ खुद भले हैं खुद की शरण ढूँढ लिया है। अपनी शरण अपना ही परमात्मस्वरूप है, चैतन्यभाव है, सहजभाव है। आत्मा के ही सत्त्व के कारण जो लक्षण है उसका परिज्ञान हुआ है तो अब बाह्य में परमेष्ठी के स्वरूप का ध्यान करके हम उस शरण की ओर पहुँचते हैं पर मूल से यदि हमने अपने शरणभूत

को नहीं पाया तो बाह्य में भी हमें जो व्यवहार में शरणभूत है वह भी शरणभूत नहीं है ।

अज्ञानभाव का बन्धन—जिनका भी बन्धन है वह अपने अध्यवसान परिणाम का बंधन है, और उस अध्यवसान से विपरीत जो भाव है उससे मोक्ष है । जिस भाव से बंधन है उसके उल्टा भाव से मोक्ष है । बंधन का सम्बन्ध है पर के भाव से, विकल्प से । किसी परपदार्थ में कुछ करने धरने की बात का परिणमन बनाने का जो परिणाम होता है उस परिणाम से बंधन है । मोक्ष होगा समाधिभाव से । अध्यवसान और सम्बन्ध के अध्यवसान से तो यह जीव अपनी कल्पनाओं से अपने आपकी सीमाओं को तोड़कर याने अज्ञानभाव को पकड़कर बाहर छलांग मार रहा है । अर्थात् जो वस्तुस्वरूप में नहीं पाया जा रहा है वैसी ही कल्पना मचा रहा है, पर समाधानभाव में समाधानरूप परिणाम है । सम्यक रूप से अपने आपको अपने आप में बिठा लेना सो समाधान है ।

समाधि में समाधान—समाधान परिणाम है समाधिभाव में चिंता नहीं है, विकल्प नहीं है, शल्य नहीं है, शोक नहीं है, सो यहाँ ही शांति हो सकती है । समाधिरूप परिणाम शून्य है । केवल शून्य नहीं है । भरपूर भी यह है । यह समाधिस्थ आत्मा मिथ्यात्व रागादिक विकल्प जालों से तो सूना है किन्तु अपना जो चिदानन्द स्वरूप है ज्ञानानन्द, उस स्वरूप का आश्रय लेने से, दृष्टि होने से ज्ञान में ज्ञानज्योति के बने रहने से जो विलक्षण अलौकिक परम आल्हाद होता है उस ज्ञानानन्दस्वरूप से वह समाधिस्थ पुरुष मरा हुआ है, भरपूर है । जो भाव है निरूपाधि, किसी उपाधि का सम्बन्ध नहीं । उपाधि के निमित्त से होने वाला नहीं, उपाधि से सम्बन्ध रखने वाला नहीं । केवल स्वतः सिद्ध जो निजस्वरूप है उस निजस्वरूप का दर्शन है, आलम्बन है, आश्रय है, उसका ही झुकाव है उसकी ओर ही अपने ज्ञान को बसाये हुए है, ऐसी स्थिति में जो उसके ज्ञानानन्द का शुद्ध विकास है उस विकासरूप परमभावों से भरपूर है ।

अध्यवसाय विकल्पों की त्याज्यता—भैया ! जिससे लौकिकजन अपने को भरपूर मानते हैं ऐसे जो रागादिक विकल्पजाल हैं इनसे वह अत्यन्त शून्य है । ऐसी निर्विकल्प समाधि परिणाम से मोक्ष होता है । यही मोक्ष का उपाय है । निष्कर्ष यह है कि जीव का जीवन मरण, सुख-दुःख उनके उदय के अनुसार होता है । उसके जीवन मरण आदिक को मैं करता है ऐसा जो अध्यवसाय है वही बंध का कारण है । दूसरे जीव मरो अथवा मत मरो, मेरे विचार के अनुकूल परिणमो अथवा न परिणम, पर यह जो सम्बन्ध पाकर अध्यवसान किया गया उससे तो बंधन हो ही गया । जब ऐसी बात है तब रागादिक अपध्यान त्याग करने के ही योग्य है ।

अपध्यान से हानि—किसी की ईर्ष्या करना, किसी का बुरा विचारना, इनसे क्या लाभ मिलेगा, बल्कि अपने उपयोग को ही मलिन किया, इस यत्न के कारण इसका घात हो ही गया, अर्थात् अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव की झलक न ले पाया, आनन्द न लूट पाया और इसका यह स्वभाव तिरोहित हो गया, कुन्द हो गया, दब गया, अब जगह-जगह पड़ा है, जन्म मरण करता है, दुःखी होता है । तो अपने को अपनी दृष्टि करके अपने ही हित के भाव से अपने आप में अपना समाधान परिणाम बनाना है और इस ही अपने आपकी

निर्मलता के प्रसाद से ये सब संकट टलेंगे, ऐसा जानकर अपध्यान छोड़ना चाहिए, इसके लिए यह सब वर्णन किया गया है।

निष्कर्ष—उद्यागत द्रव्य प्रत्ययों में (कर्मों में) कर्मबंध का निमित्त अध्यवसाय है अतः अपने अध्यवसाय को बंध का कारण जानकर रागादि अध्यवसान छोड़कर अविकल्प ज्ञानमय आत्मस्वरूप में उपयोग लगाना ॥२६२॥

अब भिन्न करके यह बात बतलाते हैं कि कौन-सा अध्यवसान पुण्यबंध का कारण है और कौन-सा अध्यवसान पापबंध का कारण है।

गाथा २६३

एवमलिये अदत्ते अबंभवेरे परिग्गहे चेव ।

कीरइ अज्ज्ञवसाणं जं तेण दु बज्ज्ञाए पावं ॥२६३॥

गाथा २६४

तहवि य सच्चे दत्ते वंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।

कीरइ अज्ज्ञवसाणं जं तेण दु बज्ज्ञये पुण्णं ॥२६४॥

पापबंध के हेतु भूत अन्य अध्यवसाय—जैसा कि हिंसा के सम्बन्ध में अध्यवसाय की बात कही है कि हिंसा में अध्यवसाय करना सो बंध का कारण है। अध्यवसाय का अर्थ है परविषयक परिणाम करना। मैं मारता हूँ, मैं जिलाता है, इस प्रकार अपने आप में परिणाम उत्पन्न करना इसका नाम है अध्यवसान। अध्यवसाय या आशय दोनों का अर्थ किसी सीमा तक एक है। तो जैसे हिंसा में जो अध्यवसाय किया जाता है वह पाप बंध का कारण है। इसी प्रकार झूठ में, चोरी में, कुशील में, परिग्रह में जो अध्यवसान किया जाता है। वह भी पापबंध का कारण है। अपनी स्वरूपदृष्टि से हटे तो बंध होगा। बंध नाम भी इसी का है कि अपने आपको विवश कर लेना, स्ववश न रख पाना इसी का नाम बंधन है। स्ववश होने का नाम मोक्ष है और विवश हो जाने का ही नाम संसार है।

आत्मा जब स्ववश होता है तब इसकी एक-सी परिणति चलती है और जब विवश होता है तो उसकी विचित्र परिणति चलती है। जैसे लोक में जब कोई मनुष्य स्ववश है तो शान्ति समता पक ढंग की रहती है, और: जब किसी रागद्वेष के कारण आकुलता हो जाती है तब इसकी विचित्र परिणति हो जाती है। कभी कुछ चिंता है, कभी कुछ शोक है, कभी कुछ प्रयत्न है, कभी कुछ भाव बनता है, इस तरह जो जीव अपने स्वरूप से चिंगकर पर में दृष्टि लगाता है उस समय यह जीव परवश हो जाता है। कभी राग होता है, कभी द्वेष होता है, धैर्य नहीं रहता, समता परिणाम नहीं रहता। और, यह जीव जब समस्त परपदार्थों से विविक्त है आत्मतत्त्व पर दृष्टि करता है उस समय यह जीव स्ववश हो जाता है, समतापरिणाम में आ जाता है।

पापवृत्ति में पराश्रयता की अवश्यंभाविता—पर की ओर दृष्टि किए बिना हिंसा का परिणाम नहीं बनता। मैं दूसरे को मारता हूँ, इस तरह से किसी दूसरे का लक्ष्य किया तब तो हिंसा का परिणाम बना। इसी प्रकार दूसरे जीव का कुछ लक्ष्य किये बिना झूठ बोलने का परिणाम नहीं बनता है। झूठ बोलना किसी कारण से ही तो बोलता है, दूसरे का लक्ष्य तो करना ही हुआ और उसके साथ लगा है अपना स्वार्थ, विषय, प्रेम, सो वह कारण बन रहा है झूठ बुलवाया जाने का। तो पर की ओर दृष्टि हुए बिना झूठ बोलने का भाव नहीं बनता। चोरी का भी भाव पर दृष्टि बिना नहीं होता। आत्मा में ज्ञानमय स्थिति का वातावरण नहीं रहता है। चोरी के परिणाम में बाह्य की ओर दृष्टि है। जब किसी जीव से द्वेष हुआ तभी तो चोरी की जा रही है या चोरी करायी जा रही है अथवा अपने विषय साधनों से राग हुआ है तो उस राग की प्रेरणा की वजह से चोरी की जा रही है, या चोरी करायी जा रही है। सो जिस चीज को चुराया जाता है उस पर दृष्टि है, इससे मुझे हित होगा, सो उस पर दृष्टि के कारण उसको बन्ध है।

कुशील में भी पर दृष्टि है। मैं अपने आप स्वयं आनन्द स्वरूप हूँ, जब यह निगाह नहीं रहती है तब विषय भोग का यत्न होता है, और जिसको अपनी यह निगाह हो कि मैं स्वयं आनन्द स्वरूप हूँ, मेरा आनन्द मेरे से कहीं बाहर नहीं मिलता है, ऐसे अपने आनन्द स्वरूप की दृष्टि हो तो वह क्यों कुशील सेवेगा, क्यों विषय भोग करेगा। तो पर दृष्टि हुए बिना ब्रह्मचर्य का घात नहीं होता है। परिग्रह के संचय में तो पर बुद्धि स्पष्ट ही है। वैभव से मेरे को लाभ है, इस वैभव से मेरा बड़प्पन है, इस वैभव से मेरा महत्त्व बढ़ेगा, इस प्रकार वैभव में दृष्टि है। तो इन पाँचों पापों में व पर पदार्थों की ओर दृष्टि है। और इसीलिए बन्ध है अपनी दृष्टि से चिंगे और पर की दृष्टि में लगे, यहीं बन्ध हो गया। अब बन्धन की दृष्टि से सब बन्धन समान हैं। अर्थात् स्वयं दूर हो गया और पर की ओर उन्मुख हो गया।

पराश्रयता में शुभ अशुभ का प्रकार—पर अथवा पर पदार्थों में जो ऐसे आत्मा के आश्रय भूत है कि जिन परिणामों के वातावरण में अपने स्वभाव की दृष्टि कर सकने की अपात्रता नहीं आती है वे तो होते हैं शुभ बंध के कारण और जिन पर दृष्टियों में स्वभाव दृष्टि की अपात्रता बन जाती है वे होते हैं अशुभ बन्ध के कारण। जब भगवान की भक्ति कर रहे हों तो भगवान है ज्ञान स्वरूप। ज्ञायक स्वरूप भगवान है तो जरूर पर है तो पर पदार्थ किन्तु पर पदार्थ होकर भी ज्ञायक स्वरूप भगवान की जो दृष्टि है वह हमें अपात्र नहीं बनाती कि हम स्वभाव दृष्टि कर सकें, और चाहें तो भगवान की भक्ति के बीच-बीच हम आत्म स्पर्शी बन सकते हैं। जितनी-जितनी ये व्यवहार धर्म की आन्तरिक क्रियाएँ हैं ये हमें निश्चय धर्म पालन की अपात्र नहीं बनाती हैं, पात्र रखती हैं, योग्यता बनाएँ रहती हैं, परन्तु पाप की जो क्रियाएँ हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह उनमें कोई लगे तो उसमें पदार्थ स्वदृष्टि की अपात्रता बन जाती है। वहां जीव जो पाप में प्रवृत्त है, अपने स्वरूप की दृष्टि करने में असमर्थ है। इस अशुभ लगने से पाप कर्मों का बन्ध होता है।

सर्वत्र अध्यवसाय की बन्ध हेतुता—अध्यवसाय से बन्धन की दृष्टि से देखा जाये तो पाप में भी वही पद्धति हुई और पुण्य में भी वही पद्धति हुई, अर्थात् कहीं ऐसा नहीं है कि पाप का बन्ध अध्यवसाय से होता

हो और पुण्य का बन्ध रत्नत्रय के पालन से होता हो, रत्नत्रय के पालन से निर्जरा है, बन्ध नहीं है। बन्ध अध्यवसाय से ही होता है। हिंसा, झूठ आदि से बन्ध हो तो पाप होगा और अहिंसा, दया, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य का पालना, परिग्रह का त्यागना इनका अध्यवसाय हो तो पुण्य बन्ध होता है। जैसे पराश्रयक परिणामों में लगाव, किसी पर विषयक उपयोग परिणमन उस पाप बन्ध में हुआ है, इसी प्रकार पराश्रयक परिणामों का लगाव किसी पर के विषय में उपयोग का प्रयोजन इस पुण्य बन्ध में भी हुआ है।

परवशता की स्थिति—स्ववशता में संवर और निर्जरा और परवशता में आस्रव और बन्ध है। निश्चय से परवशता वहाँ होगी जहाँ यह जीव अपने शुद्ध स्वभाव की दृष्टि से चिंगकर किसी पर की ओर लगे। यहाँ परवशता हो ही चुकी, स्ववशता नहीं रही। रागद्वेष, झूठ, इनका भी वह आधार बन गया, तो परवशता से जैसे हिंसा में अध्यवसाय करने से पाप का बन्ध होता है, इसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनमें भी जो अध्यवसाय होता है उससे भी पाप का बंध होता है। और जैसे मैं नहीं मारता हूँ, मैं नहीं मारूँगा, मैं दया करता हूँ मैं सुखी करूँगा ऐसे दया के परिणामों में पुण्य का बंध होता है, इसी प्रकार सच बोलेंगे, असत्य न कहेंगे, चोरी का सर्वथा त्याग है, परवस्तु को छूवूँगा भी नहीं, और ब्रह्मचर्य का पालन होगा, परिग्रह का मुझे प्रयोजन न रहेगा, नहीं रखता हूँ, इस प्रकार का अध्यवसाय करने से पुण्यबंध होता है। जहाँ राह जीव अपनी स्वरूपदृष्टि से चिंगा अर्थात् किसी भी प्रकार की विकल्प तर्कणा की वहाँ बन्ध होता है। वे बंध शुभ अशुभ के भेद से २ प्रकार के हैं। जैसा आश्रय है, जैसा परिणाम है, वैसा शुभ अथवा अशुभ का बन्ध है।

शुभोपयोग—इस महाब्रत, समिति, गुप्ति आदि व्यवहारधर्म में इस ज्ञानी जीव की ऐसी सूक्ष्म प्रवृत्तियों की स्थिति होती है कि क्षण में ज्ञानदृष्टि, बाह्य संयमदृष्टि, संयम के पालन की सावधानी का उत्साह, बीच में ज्ञानदृष्टि, इस प्रकार से अपने ज्ञान को छूना और बाह्य प्रवृत्तियों का यत्न होना, इस तरह की उसमें ज्ञानदृष्टि और प्रवृत्ति क्षण-क्षण में बदलती हुई चलती रहती है और ऐसे अनेक प्रवर्तनों का समूह अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है, और उस समूहरूप अन्तर्मुहूर्त में जो निष्कर्ष निकाला है उस परिणाम का नाम है शुभोपयोग। ज्ञानी के शुभोपयोग के समय में केवल राग विषयक बात ही चलती हो ऐसी बात नहीं है। ज्ञानदृष्टि, रागवृत्ति क्षण-क्षण में अपनी बुद्धि में जो अनुभव में आ सकती है, बदलती रहती है, और उनके जो अनुभव में आ सकने योग्य उन परिणामों का जो पुञ्ज बना वह है शुभोपयोग। शुभोपयोग शब्द कहने से चूँकि शुभ की मुख्यता है इस कारण बंध की बात बंध का कारण बताया है, पर शुभोपयोग केवल राग-राग से उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस परिणमन धारा में बीच-बीच ज्ञानदृष्टि होती जाती हो उन परिणमनों का समूहभूत जो एक अनुभव है उस अनुभव का नाम है शुभोपयोग।

व्यावहारिकता के उपाय में आन्तरिकता के दर्शन—लोगों को प्रवृत्ति दिखाकर मर्म का बोध कराया जाता है। ज्ञानी पुरुष चार हाथ आगे जमीन देखकर सूर्य की रोशनी में चलते हैं। साधुजन ऐसे दिखते हैं और जानकारी करायी जाती है कि उनके अन्तर में वह परिणमन है कि किस अन्तरङ्ग भाव के कारण चले

तो इस तरह की प्रवृत्ति हो? ऐसा वह भाव कौन-सा है? केवल राग-राग हीं भाव नहीं है, उसी काल उसके पानी की प्यास भी लगी है और उस ज्ञानोत्साह के साथ प्रवृत्ति बनी है उसे कहेंगे शुभोपयोग। तो शुभोपयोग का जो परिणाम है उस परिणाम में केवल राग धारा नहीं हैं, उसके मध्य-मध्य में संत ज्ञानी पुरुष की ज्ञानदृष्टि भी चलती रहती हैं। ज्ञानदृष्टि हुई, फिर रागवृत्ति हुई बुद्धि में, लब्धि में। तो ज्ञान की योग्यता भी निरन्तर है और राग का परिणमन भी निरन्तर है। पर बुद्धि की अपेक्षा कभी ज्ञानदृष्टि होती है, कभी राग परिणमन होता है बुद्धि में। तो उन ज्ञानदृष्टि और राग परिणमन अथवा सब धाराओं का पुञ्जरूप जो एक अनुभव है ऐसे अनुभव को शुभोपयोग कहा है।

शुभोपयोग में ज्ञानधारा व राग धारा का प्रवाह—शुभोपयोग में केवल राग धारा ही बहती हो और राग वश ही शुभोपयोग बना है ऐसी बात नहीं हैं ज्ञानी जीव के। लेकिन जो शुभोपयोग व्यवहार धर्म मिथ्यादृष्टि के कहा है वह अलग है। व्यवहार धर्म वाली शुभ क्रियाओं में अज्ञानी जीव के इस तरह धाराओं का परिवर्तन नहीं चलता है। जो ज्ञानी सम्यदृष्टि जीव है और संयतासंयत प्रमत्त अवस्था में है उस जीव के अबुद्धिपूर्वक अर्थात् अपनी बुद्धि में न आये ऐसी दृष्टि से तो ज्ञान परिणमन और राग परिणमन सब चल रहे हैं। किसी समय बन्द नहीं है पर बुद्धि की अपेक्षा जिसे बह अपने अनुभव में ला सके इस अपेक्षा से शुभोपयोग के काल में जो अनुभव करने वाला है उस एक काल में सूक्ष्म-सूक्ष्म रूप से ज्ञानदृष्टि है। बुद्धि के अनुभव में जब यह ज्ञानदृष्टि हैं तब रागवृत्ति नहीं, जब रागवृत्ति है तब ज्ञानदृष्टि नहीं। किन्तु उस एक शुभोपयोग के काल में इस तरह ज्ञानदृष्टि रागवृत्ति के परिणमन सहित वहाँ एक परिणमन हुआ, वह शुभोपयोग है। उस शुभोपयोग के समय कर्म निर्जरा भी है और कर्म बंध भी है।

अध्यवसान की पराश्रय भाविता—तो वहाँ जो यह अध्यवसान चला सच बोलने का, ब्रह्मचर्य का, परिग्रह के त्याग का, इन सम्बन्धी जो विकल्प हुआ, निश्चय हुआ, संकल्प हुआ, अध्यवसान हुआ, उस ओर का सचेत हुआ, सावधानी का परिणाम हुआ, किसी भी रूप में विकल्प हुआ वह पुण्य बंध का हेतु है। और जो पाप परिणामों के विकल्प होते हैं—हिंसा, झूठ, चोरी आदि वे तो इस जीव को स्वभाव दृष्टि से अपात्र बना देते हैं। वे पाप बंध के ही हेतु होते हैं। इस तरह इस प्रकरण में जो बहुत पहिले से चल रहा है, बंध का हेतु क्या है, तो यह जो अध्यवसान है, पर के सम्बन्ध में पर का आश्रय लेकर जो कुछ भी अध्यवसान होता है वह अध्यवसान बंध का कारण है। अध्यवसान पर का आश्रय लेकर ही होता है। चाहे वह पर परमेष्ठी रूप हो, चाहे वह पर विषय साधनरूप हो, पर अध्यवसान की उत्पत्ति किसी पर का आश्रय लेकर ही होती है।

शुभ और अशुभ अध्यवसान—उन अध्यवसानों में यह छटनी करनी है कि किसको हम शुभ अध्यवसान कहेंगे? हमारे लिए शुभ वह है जो हमारे हित में साधक या अबाधक हो, हमारे: लिए असत्य वह है जो हमारे अहित में हो सो जिस पर का आश्रय लेकर किए हुए अध्यवसान के द्वारा हम अपनी स्वदृष्टि से बाहर नहीं गिरते, स्वदृष्टि के हम पात्र रह सकते हैं और अनन्त ही क्षेत्रों में हम स्वदृष्टि कर सकते हैं, वे सब

हैं शुभ अध्यवसान के आश्रयभूत, और जिन पर का आश्रय करके जो हम अध्यवसान बनाते हैं उन उनके विपाक में हम स्वदृष्टि की पात्रता से दूर हो जाते हैं, वह है शुभ-अशुभ आश्रय । जिसमें हमारे हित का मार्ग नहीं होता वह तो है हमारे लिए शुभ सत्य, हित । और जो मेरे अहित का ही करने वाला हो, जो स्वदृष्टि से चिगाने का ही आश्रय हो ऐसा आश्रय होता है अशुभ । तो अशुभ पर का आश्रय करने से होता है पाप बंध । और जो शुभ पर का आश्रय होता है उससे जो अध्यवसान होता है उससे होता है पुण्य बंध ।

पराश्रय में बन्धन की अविशेषता—अब पुण्य बंध हो अथवा पाप बंध हो—जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिसकी रुचि निर्विकल्प ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहने की है और उससे ही तृप्ति होती है ऐसे ज्ञानी जीव का स्वदृष्टि से रच भी चिगना उसे बंधन मालूम होता है, उसको वह एक आपत्ति जानता है, इस कारण उसकी दृष्टि में शुभ अशुभ का आश्रय रूप ये सब उसके लिए बंधन मालूम होते हैं । उन सब बंधनों से पार अपने आपके उस शुद्ध अर्थात् इष्टानिष्ठ कल्पनारहित ज्ञानज्योति के ज्ञान के उपयोग की स्थिति उसको रुचिकर है और ऐसे ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में ये सर्व बंधन रूप हैं । इस प्रकार बंध के प्रकरण में बंध का हेतु बताते हुए यह सिद्ध किया है कि अध्यवसान ही बंध का कारण है ।

निष्कर्ष—अध्यवसाय जीव का अज्ञानमय परिणमन है । वत विषयक अध्यवसाय पुण्य बंध का निमित्त है असत् विषयक अध्यवसाय पाप कर्म के बंध का निमित्त है अतः शुभ व अशुभ अध्यवसायों को बंध हेतु जानकर उनसे हठकर अविकल्प ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में उपयुक्त होने का पौरुष करना ॥२६३-२६४॥